कौटिल्यकृत

'चाणक्यसूत्राणि' के सामाजिक दर्शन

का

आलोचनात्मक अनुशीलन

कानपुर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० (संस्कृत)
उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

891.2
TH03548
MIS-K; M6

शोध-निर्देशक :

डा० शिवबालक द्विवेदी

एम०ए०, पी-एच० डी० (संस्कृत)
प्रवक्ता—संस्कृत-विभाग
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

688

इरा मिश्रा

शोध-छात्रा :

(श्रीमती) इरा मिश्रा

एम० ए० (संस्कृत)

डॉ० शिवबालक द्विवेदी

एम० ए० (गोल्डमेडलिस्ट) शास्त्री,
पी-एच० डी०
उ० प्र० सरकार एवम् उ० प्र० संस्कृत अकादमी
द्वारा पुरस्कृत

दिनाङ्क——————१९८

प्राध्यापक–संस्कृत विभाग
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर
कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर

•

संयोजक
संस्कृतसमिति
उद्बोधन समिति, नेहरूनगर,
कानपुर

•

सम्पादक
अभिनवसुरभारती
एवं
पारिजातम्

•

अध्यक्ष
प्रबन्धसमिति
भास्करानन्द इण्टर कालेज
नर्वल, कानपुर

•

कोषाध्यक्ष
साहित्यावन
साकेतनगर, कानपुर

प्रमाण पत्र

यह प्रमाणित करते हुए हर्ष हो रहा है कि श्रीमती हरा मिश्रा ने "चाणक्य सूत्राणि के सामाजिक दर्शन का आलोचनात्मक अनुशीलन" शीर्षक पर मेरे निर्देशन में अपना शोध प्रबन्ध पूर्ण कर लिया है। ये नियमानुसार 200 से अधिक दिनों तक मेरे यहाँ उपस्थित रही हैं। इनका शोधकार्य मौलिक है। मैं इनके शोधकार्य से पूर्णतया संतुष्ट हूँ और सफलता के लिये हार्दिक शुभ-कामनायें व्यक्त करता हूँ।

दिनाँक: 9६-११-८६

डा० शिवबालक द्विवेदी।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय संस्कृत वाङ्मय अपनी विशदता, विविधता और विदग्धता की दृष्टि से विश्व के ज्ञान - क्षेत्र में अप्रतिम और अनुपम है । इसकी सरसता और महत्ता इसी तथ्य से अभिव्यक्त होती है कि संस्कृत - साहित्य के विविध आयामों का अनुशीलन करने के लिए पश्चिम के अनेक देशों के विद्वानों ने अपना जीवन अर्पित किया, जिनमें कॉल ब्रुक, विलियम जोन्स, ए० एच० मैक्समूलर, कीथ, मैक्डानल, आदि अनेक नामों का सादर उल्लेख हो सकता है ।

संस्कृत - वाङ्मय की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि प्राचीनकाल के महर्षियों और मनीषियों ने केवल साहित्य धर्म और अध्यात्म तक ही अपने को सीमित नहीं रखा, बल्कि उन समस्त विषयों को अपने अध्ययन और विवेचन का विषय बनाया जो किसी रूप में मानव - जीवन और समाज के लिए उपयोगी थे । प्राचीन ज्ञान राशि की विशालता केवल इस तथ्य से व्यक्त होती है कि हमारे ऋषियों ने कलाएँ या विद्याएँ चौंसठ मानी थीं ।

आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य उक्त महान प्राचीन वैचारिक परम्परा की एक विशिष्ट उपलब्धि हैं । हमारे प्राचीन विचारक आत्म - विज्ञापन के विरोधी थे । वे अपने जीवन - वृत्त के सम्बन्ध में स्वयं कुछ नहीं छोड़ गए हैं । इसीलिए उनके वैयक्तिक जीवन के सम्बन्ध में पश्चिमी परम्परा की तरह अधिक विस्तार से और सप्रमाण कहना सम्भव नहीं होता। फिर भी भारतीय और पश्चिमी विद्वानों के अथक परिश्रम और अनुसंधान से जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसके आधार पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि आचार्य चाणक्य या कौटिल्य या कौटल्य भारत ही नहीं, विश्व - इतिहास के एक विलक्षण व्यक्तित्व थे । वह अपनी प्रखर मेधा, तेजस्वी व्यक्तित्व, अद्वितीय पाण्डित्य, अपूर्व संगठन क्षमता, अनन्य राष्ट्र-प्रेम और अद्भुत त्याग-वृत्ति के द्वारा विश्व - ज्ञान के क्षितिज में सदैव जाज्वल्यमान रहेंगे तथा

..

उनकी अमर कृतियाँ समग्र मानवता का अनन्त काल तक पथ - प्रदर्शन करती रहेंगी ।

आचार्य चाणक्य के कृतित्व की महानता दाई हजार वर्षों के उपरान्त भी विश्व के मूर्धन्य विद्वान मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं । पश्चिम की अनेक भाषाओं में उनकी कृतियों के अनुवाद हुए हैं और उन पर अनेक शोधपूर्ण प्रबन्ध और लेख प्रकाशित हो चुके हैं, तथा आज भी अनेक विद्वानों को उनकी ओर आकर्षित होने को विवश होना पड़ता है । चाणक्य के कृतित्व का विवेचन करके जिन पश्चिमी विद्वानों ने यश और कीर्ति अर्जित की है, उनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं - विन्सेन्ट स्मिथ, अल्ब्रेख्त वेबर, हर्टेल, हरमन जेकोबी, जूलियस जौली, कार्लो पारमियो, जे० एन० फ्लीट, एन० डब्लू० थामस, ई० डब्लू० हाकिन्स, जा० जैर, बनार्ड ग्रेलोडयरअब्रहीम एस० स्टर्नबाक आदि । भारत वर्ष में श्याम शास्त्री, गणपति शास्त्री, एस० के० अय्यंगर, डी० आर० भन्डारकर, प्राणनाथ विद्यालंकार, पी० वी० काणे, उदयवीर शास्त्री, वाचस्पति गैरोला, डा० बेनी प्रसाद, राधाकमल मुकर्जी, ए० एस० अल्तेकर, डा० रघुनाथ सिंह, रामावतार विद्याभास्कर, राधाकृष्ण चौधरी, एस० एन० धर आदि विद्वानों ने चाणक्य के विचारों का विश्लेषण किया है।

आचार्य चाणक्य की महानता, विशिष्टता और विद्वता का आंशिक आभास निम्नांकित कुछ उद्धरणों से होता है - कामन्दकीय नीति - शास्त्र में कहा गया है, "चाणक्य ने अपनी अलौकिक शक्ति से दीप्त तेज से पर्वत तुल्य विशाल नन्द वंश को मिटा डाला था, उस अकेले ने अपनी बुद्धि, प्रतिभा तथा दैव-सेनापतियों जैसी शक्ति से चन्द्रगुप्त को लोकप्रिय राजा तथा भूदेवी-पति बना दिया था ।"[1]

---

1. यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः ।
पपातामूलतः श्रीमान सुपर्वा नन्दपर्वतः । 4 ।
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः ।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ।5 । कामन्दकीयनीतिशास्त्र

पं० जवाहर लाल नेहरू कहते हैं, 'जिसका लिखने वाला न महज एक विद्वान था, बल्कि उसने साम्राज्य के कायम करने, उसे तरक्की देने और उसकी हिफाजत में बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। चाणक्य को हिंदुस्तान का मैकियावली [redacted] कहा गया है और कुछ हद तक यह मुकाबला मुनासिब भी है। लेकिन हर माने में वह मैकियावली से बड़ा आदमी था- दिमाग में भी और काम में भी।"[1]

डा० विनय कुमार सरकार कहते हैं, "हमें भारतमाता को अर्पना करनी चाहिए; क्योंकि उसने विष्णुगुप्त चाणक्य कौटिल्य या कौटल्य को उत्पन्न किया। अर्थशास्त्र सम्पूर्ण मानवता के क्षेत्र में महत्तम कृति है।"[2]

पश्चिमी विद्वान चार्ल्स ड्रेकमेयर का मत है कि प्रशासन की संरचना और प्रक्रिया के विचार में "कौटिल्य पश्चिमी विचारक मैकियावेली को बहुत पीछे छोड़ गए हैं।"[3] बर्नार्ड ग्रेनोक्विर ने चाणक्य के चिन्तन का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि वह राजनीति के परमोच्च विचारक हैं तथा विश्व में आर्थिक नियोजन के जनक हैं।[4]

आचार्य चाणक्य अनेक ग्रंथों के प्रणेता कहे जाते हैं, जिनमें 'कौटिलीय-अर्थशास्त्र' उनकी सर्वोत्तम और सर्वाधिक चर्चित कृति मानी गई है। दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'चाणक्य सूत्राणि' मानी गई है। "कौटिलीय अर्थशास्त्र" की खोज श्री आर शास्त्री ने की थी। उन्होंने इस कृति को "अर्थशास्त्र" के परिशिष्ट में प्रकाशित किया था। इससे ये सब सिद्ध होता है कि यह चाणक्य की कृति है तथा महत्वपूर्ण है। कुछ लोग इसकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह व्यक्त करते हैं। ऐसा सन्देह उन लोगों ने कौटिल्य के

---

1. पं० जवाहर लाल नेहरू, हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 163
2. डा० विनय कुमार सरकार, दि पाजिटिव बैकग्राउन्ड आफ हिन्दू सोसियोलाजी, पृ० 361
3. चार्ल्स ड्रेकमेयर, किंगशिप एंड कम्यूनिटी इन अली इंडिया पृ० 201
4. डा० विनय कुमार सरकार, दि पाजिटिव बैकग्राउन्ड आफ हिन्दू सोसियोलाजी, पृ० 329

अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में भी व्यक्त किया था, लेकिन आज उसे वाणक्य की ही कृति माना जाता है। शोध - छात्रा का मत है कि जब श्याम शास्त्री तथा अन्य अनेक भारतीय विद्वानों ने इसे वाणक्य की कृति स्वीकार करके इसके भाष्य लिखे हैं, तो इसे वाणक्य की कृति न मानने का कोई औचित्य नहीं है। यदि तर्क भी स्वीकार किया जाए कि इसका लेखक कोई अन्य व्यक्ति है, तो कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जब इसका नाम "वाणक्य सूत्राणि" है, तो यह वाणक्य के विचारों पर ही आधारित है। हमें वाणक्य की भाषा, शैली और शिल्प का अध्ययन नहीं, अपितु विचारों का अध्ययन करना है। विचारों के लिए इसे आधार बनाने में कोई अनुचित प्रयास नहीं होगा। यदि हम शोध की वैज्ञानिक प्रणाली का अनुसरण करें, तो 'वाणक्य सूत्राणि' के अन्तः साक्ष्यों से सरलता से प्रमाणित किया जा सकता है कि "कौटिलीय अर्थशास्त्र" और "वाणक्य सूत्राणि" के विचारों में पूर्ण सादृश्य है। अनेक ऐसे विषय हैं जो अर्थशास्त्र में तार्किक रूप में हैं, लेकिन "वाणक्य सूत्राणि" में विस्तृत रूप से दिए गए हैं। इसी प्रकार अनेक ऐसे विषय भी हैं जो "वाणक्य सूत्राणि" में संकेत में हैं, लेकिन उनकी विस्तृत व्याख्या "अर्थशास्त्र" में मिलती है। इस तथ्य की पुष्टि इस शोध - प्रबन्ध के विहंगावलोकन मात्र से हो जाएगी।

शोध - छात्रा का मत है कि "वाणक्य सूत्राणि" समाज - दर्शन का एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ है और "अर्थशास्त्र" व्यावहारिक राजनीति की एक विस्तृत रचना है। "अर्थशास्त्र" में प्रधानतः विवेच्य - विषय राजनीति तथा राजनैतिक अर्थशास्त्र है, तथा "वाणक्य सूत्राणि" में समग्र सामाजिक पर्यावरण का पर्यालोचन है। दुर्भाग्य है कि इस महान् कृति के उन्नत और उदात्त सामाजिक चिन्तन की भी समीक्षा और मूल्यांकन करने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया। प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध के द्वारा शोध - छात्रा ने यथासम्भव निष्ठापूर्वक वाणक्य के सामाजिक चिन्तन का विश्लेषण करने का आरम्भिक प्रयास किया है।

शोध - छात्रा का यह मत है कि यदि प्राचीन ग्रन्थों को समकालीन समाज के लिए उपादेय और प्रेरक बनाना है, तो उनका अध्ययन प्राचीन भाष्य शैली के साथ - साथ आधुनिक ज्ञान - विज्ञानों की शैली में भी होना चाहिए। आज ज्ञान - विज्ञान के क्षेत्र में पश्चिमी अध्ययन और अनुसन्धान पद्धति का आधिपत्य है। आज के पाश्चात्य शैली के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के जो छात्र इन विषयों का अनुशीलन करना चाहते हैं, उनको आधुनिक वैज्ञानिक या पारिभाषिक शब्दावली और सन्दर्भों में प्राचीन चिन्तन को प्रस्तुत किया जाए, तो पाठकों में विशेष अभिरुचि उत्पन्न होगी और भारत की प्राचीन महानता का समुचित बोध होगा। इसी विचार को दृष्टि में रखते हुए 'याज्ञवल्क्य सूत्राणि' के सामाजिक दर्शन का आधुनिक समाज-दर्शन के आधार पर विवेचन करने का प्रयास इस शोध - प्रबन्ध में किया गया है।

विषय - वस्तु की दृष्टि से सामाजिक चिन्तन सृष्टि के आदि काल से विश्व के प्रत्येक समाज में होता आ रहा है। भूतत्व-शास्त्रियों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सभ्य जगत ही नहीं आदिवासियों के समाजों में भी सामाजिक चिन्तन होता रहा है। अन्तर केवल इतना है कि विश्व के जो राष्ट्र सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से पहले समुन्नत हुए उनका सामाजिक चिन्तन अधिक व्यवस्थित और क्रमबद्ध हुआ। विश्व - सभ्यताओं में भारतीय संस्कृति सबसे अधिक प्राचीन है। वेद, संसार का सर्वप्रथम ग्रन्थबद्ध और लिपिबद्ध आलेख है। वेदों के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थ, कल्पसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्य सूत्र, उपनिषद्, नीति-ग्रन्थ, स्मृतियाँ, महाकाव्य आदि ने सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में विश्व के समक्ष विपुल सामग्री प्रस्तुत की। यह सब सामग्री मिश्रित रूप में है। आधुनिक ज्ञान, विज्ञान के समान इसमें विभिन्न विषयों का पृथक्करण और परिशोधीकरण नहीं है। उदाहरण के लिए, धर्मशास्त्रों में धर्म, राजनीति, अर्थनीति, समाज-नीति, आचार-शास्त्र, आदि एक साथ मिश्रित रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार नीति -ग्रन्थों और स्मृतियों में अनेक विषयों का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। पश्चिमी शास्त्रों ने अध्ययन

को सुविधा के लिए आधुनिक युग में पर्याप्त पृथक्करण किया है और अनेक विषयों का विविध शाखाओं और उपशाखाओं में विभाजन किया है, तथा प्रत्येक विषय के अनुसन्धान की पद्धतियाँ विकसित की हैं। समाज - दर्शन इसी प्रकार का एक विषय है, जो दर्शन - शास्त्र की एक शाखा है, जिसमें समाज के विभिन्न पक्षों और संस्थाओं के सामान्य नियमों का विवेचन होता है। उदाहरण के लिए, विवाह, परिवार, सामाजिक संरचना, राजनैतिक और धार्मिक व्यवस्था, नैतिक व्यवस्था आदि। पश्चिम में समाज - दर्शन का इतिहास प्रायः प्लेटो से प्रारम्भ होता है, लेकिन आधुनिक युग में यहाँ इस विषय का अत्यधिक विकास हुआ है। इस क्षेत्र में भी पश्चिमी विद्वानों ने अध्ययन की अनेक सम्पन्नत प्रविधियाँ और प्रक्रियाएँ विकसित की हैं जिनका भारतीय शिक्षा - जगत में भी पर्याप्त प्रचार और प्रसार है। प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध में इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अंगीकार किया गया है।

शोध - छात्रा ने "चाणक्य सूत्राणि" का यथातथ्य और यथाशक्ति जो अध्ययन किया है, उससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि यह कृति विशुद्ध रूप से समाज - दर्शन की रचना है। इसमें पाश्चात्य समाज-शास्त्र और समाज - दर्शन के अधिकांश सिद्धान्तों और नियमों का सूत्र शैली का जो भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है, वह पश्चिम के हजारों पृष्ठों के ग्रंथों में उपलब्ध हो पाता है, अथवा यह कहें कि पश्चिमी समाज-दार्शनिक जिन तथ्यों को पचासों पृष्ठों में व्यक्त करते हैं, उन्हें आचार्य चाणक्य का एक सूत्र मात्र प्रस्तुत कर देता है। पश्चिम में प्लेटो से आधुनिक बर्ट्रेंड रसल तक समाज दार्शनिकों को अपने सामाजिक सिद्धान्तों को समाज पर लागू करने का अवसर नहीं मिला। चाणक्य इस दृष्टि से सौभाग्यशाली थे कि उन्होंने अपने सामाजिक चिन्तन को चन्द्रगुप्त मौर्य के माध्यम से समाज में प्रवर्तित कराया था। इस प्रकार जहाँ पश्चिम के समाज दार्शनिक केवल कल्पनाजीवी थे, वहाँ "चाणक्य सूत्राणि" का लेखक पूर्ण व्यावहारिक है। शोध-छात्रा का विश्वास है कि विश्व के महत्तम चिन्तक आचार्य चाणक्य की अद्भुत ज्ञान-

राशि को सहजबोधगम्य बनाने और उसकी महत्ता के मूल्यांकन में इस प्रबन्ध से कुछ सुविधा प्राप्त होगी ।

यह शोध-प्रबन्ध चार खण्ड और दस अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम खण्ड 'परिप्रेक्ष्य' के अन्तर्गत तीन अध्याय हैं । प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश है, इसमें समाज-दर्शन की संकल्पना को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । इसके अन्तर्गत पाश्चात्य समाज-दर्शन की दृष्टि से समाज-दर्शन की परिभाषा की गई है । तथा भारतीय और पाश्चात्य समाज-दर्शनों की समानता और विषमता के अन्तर को स्पष्ट किया गया है । इसके अतिरिक्त समाज-दर्शन की विषय-वस्तु, क्षेत्र, अध्ययन-पद्धति पर प्रकाश डाला गया है । इस अध्याय के अन्त में यह स्पष्ट किया गया है कि भारतीय सामाजिक दर्शन विश्व के समस्त सामाजिक दर्शनों में अग्रिम है, क्योंकि यह केवल मनुष्य के भौतिक और मानसिक विकास का ही चिन्तन नहीं करता है; बल्कि मनुष्य की आत्मा के विकास को भी सामाजिक विकास का ही एक अंग मानता है ।

दूसरा खण्ड 'परिपार्श्व' शीर्षक के अन्तर्गत है । इसमें शोध-प्रबन्ध की पृष्ठभूमि को दो अध्यायों में विभक्त किया गया है । अध्याय क्रम में दूसरे अध्याय का शीर्षक है, "भारत के प्राचीन सामाजिक दर्शनों का संक्षिप्त सर्वेक्षण"। इसके अन्तर्गत वैदिक-युग, उपनिषद्-युग, सूत्रग्रन्थ-युग और महाकाव्यों के युग के सामाजिक दर्शनों की प्रमुख प्रवृत्तियों का क्रम में परिचय दिया गया है । यह सब दर्शन चाणक्य पूर्व के हैं । इनका परिचय प्राप्त करने से चाणक्य के चिन्तन में परम्परा और प्रयोग के निर्धारण में विशेष सुविधा होगी ।

तीसरा अध्याय 'चाणक्यसूत्राणि का परिवेश और परिप्रेक्ष्य' है । इसमें 'चाणक्य सूत्राणि' के लेखक आचार्य चाणक्य के नाम, जन्म-स्थान, जन्म-काल और उनके कृतित्व आदि पर विचार किया गया है तथा उन परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया गया है जिनमें चाणक्य को अपना मार्ग प्रशस्त करना पड़ा था ।

इसी अध्याय में 'चाणक्य सूत्राणि' की संक्षिप्त रूपरेखा और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला गया है ।

तीसरा खण्ड 'परिशीलन' है जिसमें शोध की मुख्य विषय-वस्तु पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है । यह खण्ड शोध-प्रबन्ध के चौथे अध्याय से प्रारम्भ होता है, जिसका शीर्षक है, 'चाणक्य सूत्राणि' में व्यक्तित्व-निर्माण का दर्शन । समाज-दर्शन की यह मान्यता है कि व्यक्ति समाज की इकाई है तथा समाज का अभिन्न अंग है । यदि व्यक्ति समुन्नत होंगे, तो समाज विकास करेगा, और यदि व्यक्ति अविकसित हैं, तो समाज का ह्रास होगा । चाणक्य ने इसीलिए अपने समाज-दर्शन में व्यक्तित्व के निर्माण और विकास पर सर्वाधिक ध्यान केन्द्रित किया है । इस अध्याय में व्यक्तित्व की पश्चिमी अवधारणा के सन्दर्भ में चाणक्य के व्यक्तित्व सम्बन्धी चिन्तन का विश्लेषण किया गया है । इस अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि व्यक्तित्व के पक्ष केवल भौतिक और मानसिक नहीं होते हैं । चाणक्य आत्मिक पक्ष को भी महत्व देते हैं । यहीं पर यह पश्चिमी समाज दार्शनिकों से भिन्न हो जाते हैं ।

पाँचवाँ अध्याय 'चाणक्य सूत्राणि' का परिवार दर्शन है । इसमें सर्वप्रथम चाणक्य के पूर्व के परिवार-दर्शन की मुख्य प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, और इसके उपरान्त चाणक्य के परिवार सम्बन्धी दर्शन को कई शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त करके विश्लेषित किया गया है । मुख्य रूप से परिवार का संगठन, विवाह के रूप, पारिवारिक आचार-विचार और स्त्रियों की अवस्था शीर्षक विशेष उल्लेखनीय हैं । चाणक्य ने इन सभी पक्षों में ऐसा चिन्तन प्रस्तुत किया है जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता है, जिसे अनेक दृष्टियों से क्रान्तिकारी और प्रगतिशील कहा जा सकता है । विशेष रूप से अन्तर्जातीय विवाह, विवाह-विच्छेद, स्त्रियों के हितों की रक्षा आदि के सम्बन्ध में चाणक्य के विचार इस अध्याय में विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किए गए हैं ।

ना

छठा अध्याय 'चाणक्य सूत्राणि' का सामाजिक संरचना का दर्शन है। इस अध्याय में समाज की आधारभूत संस्थाओं वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था और सामुदायिक संगठन के सम्बन्ध में चाणक्य के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि "चाणक्य सूत्राणि" में इस विषय का विस्तार से विवेचन नहीं है, लेकिन संकेत अवश्य हैं। इन्हीं सूत्रों के आधार पर "कौटिलीय अर्थशास्त्र" के विचारों की सहायता लेते हुए कौटिल्य के सामाजिक संरचना सम्बन्धी चिन्तन के स्वरूप को निर्धारित किया गया है।

सातवाँ अध्याय 'चाणक्य सूत्राणि' का राज दर्शन है। आचार्य को विश्व के विद्वान राजनीतिक आचार्य के रूप में ही अधिक जानते हैं। "चाणक्य सूत्राणि" में भी राजनीति-दर्शन के सम्बन्ध में अनेक उदात्त विचार प्राप्त होते हैं। अतः इस अध्याय में उनके राजनीति-दर्शन सम्बन्धी मौलिक विचारों को प्रस्तुत किया गया है तथा पश्चिमी राजनीतिक दर्शन से यत्र-तत्र तुलना भी की गई है। इसमें यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि तुलनात्मक कल्याणकारी राज्य की संकल्पना चाणक्य ने सबसे पहले विश्व के समक्ष प्रस्तुत की। उन्होंने केवल योजना ही प्रस्तुत नहीं की, बल्कि मौर्य-साम्राज्य के माध्यम से अपने विचारों को मूर्त रूप प्रदान किया था। यह गुणवत्ता विश्व के किसी प्राचीन राजनैतिक विचारक को नहीं प्राप्त हो सका था।

आठवाँ अध्याय 'चाणक्य सूत्राणि' का धर्म-दर्शन है। आचार्य चाणक्य के सम्बन्ध में यह भ्रम फैलाया गया है कि वह कुटिल राजनीति के प्रवर्तन का प्रयास कर रहे थे, लेकिन यह सत्य नहीं है। वह मूलतः धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे और धर्म को जीवन में सर्वोपरि स्थान देते थे। लेकिन उनका धर्म सीमित, संकुचित और रूढ़िवादी नहीं था। उनकी दृष्टि में धर्म, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए है। धर्म समाज की रक्षा करता है और समाज धर्म की रक्षा करता है। यदि

किसी स्थिति में समाज या राष्ट्र पर किसी प्रकार की आपत्ति आती है, तो धार्मिक मान्यताओं में परिवर्तन किया जा सकता है, अर्थात् किसी भी मूल्य पर राष्ट्र की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है । इसीलिए वह शत्रु को पराजित करने के लिए तथाकथित कूट उपायों के अनुसरण का परामर्श देते हैं । निश्चित ही यह एक व्यावहारिक दृष्टिकोण है । इस दृष्टिकोण के अभाव में ही बाद में भारत में विदेशियों का आधिपत्य हुआ । इस अध्याय में चाणक्य के धर्म-सम्बन्धी दृष्टिकोण का विस्तार से विवेचन किया गया है । वस्तुतः चाणक्य का धर्म सन्तुलित है, उसमें धर्म, अर्थ और काम यथा अवसर उपयोग होना चाहिए । इसमें धर्म और अर्थ, धर्म और राज्य, धर्म और अन्य पक्षों पर विचार करते हुए चाणक्य की धर्म की धारणा को स्पष्ट किया गया है । चाणक्य पूर्ण रूप से धार्मिक हैं, लेकिन उनका धर्म निरीहों और निर्बलों का धर्म नहीं है । वह अहिंसा, दया, करुणा, क्षमा आदि समस्त सद्-वृत्तियों को पूर्ण महत्व प्रदान करते हैं, किन्तु यदि इनके कारण राष्ट्र और समाज को क्षति हो, तो यह उन्हें सह्य नहीं । इसीलिए उनका धर्म और दण्ड साथ-साथ चलते हैं । उनका विश्वास है कि धर्म का पालन दण्ड के बिना सम्भव नहीं । अतः वह राजा को निर्देश देते हैं कि वह सदा इस दिशा में सावधान रहे कि राज्य में प्रजा अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करती रहे और स्वयं राजा भी धर्म से विरत न हो । शोध-छात्रा का मत है कि चाणक्य का धर्म व्यावहारिक और सामाजिक धर्म है । लेकिन जो लोग सन्यास और वानप्रस्थ अवस्थाओं में पहुंच चुके हैं, उनके लिए वह आत्मसाक्षात्कार को ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य मानते हैं । इसमें वह कहे जा सकते हैं कि आचार्य चाणक्य ने अपने धार्मिक दर्शन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्भुत समन्वय किया है । उनका सम्पूर्ण सामाजिक दर्शन इसी धार्मिक दर्शन पर आश्रित है ।

नवां अध्याय 'चाणक्य तुलसी के अन्य दर्शन' है । इस अध्याय

में चाणक्य के अन्य प्रकीर्ण विचारों पर भी संक्षेप में विवेचन किया गया है, जिनमें आचार-दर्शन, शिक्षा-दर्शन, अर्थ-दर्शन, सामाजिक विघटन सम्बन्धी चिन्तन, नगर और ग्रामीण नियोजन सम्बन्धी चिन्तन, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। चाणक्य के चिन्तन के इन पक्षों पर बहुत अधिक लिखा जा सकता है, लेकिन शोध की परिसीमा के कारण तथा विस्तार अधिक होने के भय के कारण इन विषयों का परिचय मात्र दिया गया है।* इन विषयों पर अन्य क्षेत्रों के शोध-छात्र उल्लेखनीय कार्य कर सकते हैं। यहां शोध - छात्रा का लक्ष्य केवल आचार्य चाणक्य के चिन्तन की व्यापकता और सूक्ष्मता की ओर दिशा-निर्देश करना मात्र रहा है।

अन्तिम दसवां अध्याय 'उपसंहार' का है। इसमें सर्वप्रथम पश्चिमी समाज दार्शनिकों के संदर्भ में चाणक्य के चिन्तन की संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित तुलना करने का प्रयास किया गया है। इसमें शोध-छात्रा इस निष्कर्ष पर पहुंची है कि चाणक्य ने समाज-दर्शन के क्षेत्र में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए थे, पश्चिम के दार्शनिक अपने विशालकाय ग्रन्थों द्वारा इसमें इसमें कोई विशेष वृद्धि नहीं कर सके वस्तुतः चाणक्य के समाज दार्शनिक सिद्धान्त सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं तथा उनके सम्पूर्ण जीवन के चिन्तन, मनन और व्यावहारिक अनुभव से उत्पन्न हुए थे। इसीलिए वह आज भी विश्व के समाज-दार्शनिकों में विशिष्टतम विभूति के रूप में अभिनन्दनीय प्रतीत होते हैं।

इस अध्याय के अन्त में शोध-छात्रा ने यह भी विचार करने का प्रयत्न किया है कि आचार्य चाणक्य के चिन्तन की समकालीन समाज के लिए क्या सार्थकता और उपयोगिता है। इस सन्दर्भ में वह इस मत को व्यक्त करने के लिए बाध्य है कि आचार्य चाणक्य का समाज-दर्शन किंचित् परिवर्तनों के साथ आज भी उपयोगी और महत्वपूर्ण है। आज समाज में जो विघटन मूलक प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं, उनको धर्म और दण्ड की नीति के समन्वय से ही समाप्त किया जा सकता है तथा समाज और राष्ट्र को एक सुसंगठित स्वरूप प्रदान किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के दस अध्यायों में चाणक्य के सामाजिक दर्शन की एक संक्षिप्त रूप रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । निःसन्देह चाणक्य जैसे अप्रतिम विचारक और दार्शनिक की विज्ञता तथा गम्भीरता को आत्मसात करने तथा उसका विश्लेषण करने की क्षमता नहीं है । लेकिन इस दिशा में उच्चकोटि के विद्वानों ने विशेष ध्यान नहीं दिया था । अतः शोधछात्रा उनका ध्यान आकर्षित करने में अवश्य सफल होगी । इस सन्दर्भ में इतना विनम्र निवेदन अवश्य है कि चाणक्य के सामाजिक दर्शन और विशेष रूप से चाणक्य सूत्राणि के सामाजिक दर्शन का पश्चिमी सामाजिक दर्शन के परिपार्श्व में सम्भवतः यह प्रथम समीक्षात्मक अनुशीलन है । जहाँ तक शोधछात्रा का ज्ञान है, उसे इस विषय पर कोई प्रकाशित या अप्रकाशित कृति उपलब्ध नहीं हो सकी, अतः इस शोध-कार्य को प्रथम और मौलिक कहना अनुचित न होगा । शोधछात्रा ने अपनी योग्यता, क्षमता तथा साधनों के आधार पर पूर्ण निष्ठा के साथ विषय के साथ न्याय करने का प्रयास किया है । निश्चित ही इसमें विद्वानों को अनेक अभाव प्रतीत हो सकते हैं । लेकिन छात्रा की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए वे क्षमा करेंगे ।

इस शोध-कार्य के लेखन में सामग्री और प्रमाण संकलित करने में अनेक विद्वानों की कृतियों और विचारों से सहायता ली गई है जिसका यथास्थान उल्लेख किया गया है तथा अन्त में सहायक ग्रन्थों की सूची भी दे दी गई । शोधछात्रा इन विद्वानों की हृदय से आभारी है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध डी०ए०वी० कॉलेज, कानपुर के संस्कृत-विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक तथा संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के सुयोग्य भाष्यकार और समीक्षक श्रद्धेय पंडित डा० शिवबालक द्विवेदी, एम०ए०,पी०एच०डी, के सुयोग्य निर्देशन में सम्पन्न हुआ । आचार्य द्विवेदी जी के व्यापक अध्ययन प्रखर अनुसन्धान-दृष्टि तथा सुदीर्घ अनुभव से शोधछात्रा को पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है । अतः वह द्विवेदी जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना परम कर्तव्य समझती है ।

तेरह

यह मेरा परम सौभाग्य रहा कि मेरी संस्कृत की शिक्षा का शुभारम्भ मेरे पितामह श्रद्धेय आचार्य पं० जय जय राम शास्त्री द्वारा हुआ । मेरे पितृव्य, पिता, अनुज और अनुजा आदि में भी संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन अनुशीलन के प्रति विशेष अनुराग है । विद्यालय जीवन में भी श्रद्धेया डा०[श्रीमती] विजय लक्ष्मी त्रिवेदी, अध्यक्ष-संस्कृत-विभाग, ए०एन०डी० कालेज तथा अन्य प्राध्यापिकाओं के सुयोग्य शिक्षण में संस्कृत साहित्य के अनुशीलन का सौभाग्य प्राप्त हुआ । समाजशास्त्र विषय के माध्यम से समाज-दर्शन के अनेक विशिष्ट विद्वानों से परिचय प्राप्त करने का सुअवसर मिला, जिससे समाज शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के निर्माण में सहायता प्राप्त हुई । पश्चिमी वैज्ञानिक संकल्पनाओं के संबोध में मुझे मेरे सुहृद पूज्य श्री रमेश चन्द्र मिश्र, पति श्री डा० आलोक मिश्र से एक सुनिश्चित दृष्टिकोण प्राप्त हुआ । तथा उन्होंने मुझे शोध-कार्य के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन दिया । अनेक भाषाओं ज्ञाता और साहित्य की ज्ञाता पूजनीया माता श्रीमती तारा त्रिपाठी ने इस शोध-कार्य में विशेष रुचि ली है तथा सदा प्रेरणा प्रदान करती हैं । इन सबके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा नैतिक धर्म है । शोध-ग्रन्थ के लेखन में अनेक सन्दर्भ-ग्रन्थों की आवश्यकता होती है । इस कार्य में कानपुर विश्वविद्यालय, डी०ए०वी० कालेज, ए०एन०डी० कालेज, समाज-शास्त्र -संघ, साहित्य निकेतन कानपुर तथा डी०एन० कालेज फतेहगढ़ के पुस्तकालयों का विशेष सहयोग रहा है । इन संस्थाओं के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं । अन्त में, मैं हृदय से यह स्वीकार करती हूँ कि परम पिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा तथा अनेक ग्रन्थों के प्रणेता और विश्वविख्यात योगी गुरुदेव पूज्य स्वामी राम जी के आशीर्वाद का ही सुफल यह शोध-ग्रन्थ है । मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह सुधी सदा सुलभ रहेगी । शोध -छात्रा ने पूर्ण निष्ठा से यह शोध-कार्य सम्पन्न करने का प्रयास किया है । यदि विद्वानों को इसमें किंचित सार्थकता प्रतीत होगी, तो शोध-छात्रा अपने परिश्रम को सफल मानेगी । इरा मिश्रा

[श्रीमती] इरा मिश्र

विषय - सूची

प्रथम खण्ड : परिप्रेक्ष्य

अध्याय - 1

विषय- प्रवेश : समाज - दर्शन - संदर्शन 18

1. समाज - दर्शन की संकल्पना 20
   (क) समाज का अर्थ 21
   (ख) दर्शन का अर्थ 23
   (ग) समाज - दर्शन की परिभाषा 25
   (घ) समाज - दर्शन की भारतीय और पाश्चात्य धारणा में साम्य तथा अन्तर 27
2. समाज - दर्शन की विषय - वस्तु 29
3. समाज - दर्शन का क्षेत्र 31
4. समाज - दर्शन की अध्ययन पद्धति 32
5. भारतीय सामाजिक - दर्शन का अद्यतिम स्वरूप 34

द्वितीय खण्ड : परिपार्श्व

अध्याय - 2

भारत के प्राचीन सामाजिक दर्शन का संक्षिप्त सर्वेक्षण 38

1. वैदिक युग में समाज - दर्शन 39
2. उपनिषदों में समाज - दर्शन 47
3. धर्म - सूत्रों और गृह्य - सूत्रों में समाज - दर्शन 54
4. महाकाव्यों में समाज - दर्शन 60
5. अन्य ग्रन्थों में समाज - दर्शन 68

अध्याय - 3

"चाणक्य सूत्राणि" का परिवेश और परिप्रेक्ष्य 70

3.1 "चाणक्य सूत्राणि" के लेखक का जन्मकाल 71

3.2 चाणक्य का जीवन - परिचय 72

3.3 तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ 74

3.4 आचार्य चाणक्य की कृतियाँ 76

3.5 विवेच्य ग्रन्थ की रूपरेखा 81

3.6 "चाणक्य सूत्राणि" का सामाजिक दर्शन की दृष्टि से महत्व और विशेषताएँ 83

तृतीय खण्ड : परिशीलन

अध्याय - 4

"चाणक्य सूत्राणि" के व्यक्तित्व-निर्माण का दर्शन 87

4.1 व्यक्तित्व की पाश्चात्य अवधारणा 88

4.2 व्यक्तित्व की भारतीय अवधारणा 90

4.3 चाणक्य के व्यक्तित्व - दर्शन के आधार 92

4.4 चाणक्य के अनुसार व्यक्तित्व के भेद 94

4.5 भौतिक, मानसिक, आत्मिक व्यक्तित्व और "चाणक्य सूत्राणि" 96

4.6 "चाणक्य सूत्राणि" के अनुसार व्यक्तित्व के संघटक और विघटक तत्व 103

4.7 व्यक्तित्व और समाज का सम्बन्ध तथा "चाणक्य सूत्राणि" 111

अध्याय - 5

"चाणक्य सूत्राणि" का परिवार - दर्शन 113

111 चाणक्य - पूर्व परिवार - दर्शन 115

121 चाणक्य - काल में परिवार - संगठन 116

131 विवाह का रूप 123

141 पारिवारिक आचार - विचार 126

151 स्त्रियों की स्थिति 131

अध्याय - 6

"चाणक्य सूत्राणि" का सामाजिक संरचना का दर्शन 136

111 चाणक्य का प्रजातीय चिन्तन 137

121 चाणक्य का वर्ण - व्यवस्था - विवेचन 140

131 चाणक्य की वर्ण - व्यवस्था में ब्राह्मण की स्थिति 143

141 चाणक्य का दास - प्रथा सम्बन्धी चिन्तन 145

151 चाणक्य के चिन्तन में जाति - व्यवस्था और अन्तर्जातीय सम्बन्ध 147

161 आश्रम - व्यवस्था 149

171 सम्प्रदाय का संगठन 153

अध्याय - 7

"चाणक्य सूत्राणि" का राज - दर्शन 157

111 चाणक्य तथा राजनीति - दर्शन आदि 157

121 राज्य का स्वरूप 162

131 राजा के गुण 168

14। राजा के कर्तव्य 170

15। राज्य की अर्थनीति 175

16। दण्ड - नीति 181

17। न्याय - नीति 188

18। कूटनीति 191

19। युद्धनीति और सन्धिनीति 196

110। कर्मचारीतंत्र 202

111। लोक - कल्याणकारी राज्य की अवधारणा 204

अध्याय - 8

"चाणक्य-सूत्राणि" का धर्म - दर्शन 206

11। धर्म की समाज दार्शनिक संकल्पना 207

12। चाणक्य के धर्म का स्वरूप 209

13। धर्म के विविध पक्ष 221

14। धर्म और समाज 227

अध्याय - 9

"चाणक्य-सूत्राणि" के अन्य दर्शन 230

11। चाणक्य का आचार - दर्शन 230

12। चाणक्य का शिक्षा - दर्शन 234

13। चाणक्य का अर्थ - दर्शन 239

14। चाणक्य का सामाजिक विषयों सम्बन्धी चिन्तन 246

15। चाणक्य के अन्य चिन्तन 247

अध्याय - 10

उपसंहार 251

कौटिल्यकृत

'चाणक्यसूत्राणि' के सामाजिक दर्शन

का

आलोचनात्मक अनुशीलन

प्रथम खण्ड : परिप्रेक्ष्य

अध्याय १

विषय-प्रवेश : सामाजिक दर्शन का संदर्शन

अध्याय - I

विषय:- वृहत्तर समाज - दर्शन - संदर्शन

नैसर्गिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से मनुष्य और पशु समान हैं । मनुष्य विकसित बुद्धि और उन्नत ज्ञान द्वारा अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का परिष्कार और संस्कार कर लेता है । इसलिए वह पशु-जगत् से भिन्न हो जाता है । जब तक मनुष्य इन प्रवृत्तियों का परिशोधन नहीं कर लेता है, उसे पशु से अधिक श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता है । विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में कहा गया है, "मनुष्य बन", तो इसका आशय यही है कि व्यक्ति पशु-प्रवृत्तियों का निरसन करके संस्कृत हो । संस्कृत शब्द अत्यन्त व्यापक है । यदि संक्षेप में कहें, तो यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण ज्ञान - विज्ञान का लक्ष्य मनुष्य का संस्कार करना है । देश, काल और परिस्थिति के अनुसार मनुष्य के परिष्कार के सिद्धान्तों, नियमों, आदि में परिवर्तन होता रहा है, इसीलिए अनेक प्रकार के शास्त्रों का उदय हुआ है । समाज - दर्शन इसी प्रकार का एक मानवीय प्रयास है । यद्यपि इस प्रकार का प्रयत्न आधुनिक युग में हुआ है, किन्तु इस विषय पर चिन्तन सुदूर अतीत से होता आ रहा है । संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में कहा गया है," तुम्हारी बात एक हो, तुम्हारा बोल एक हो, तुम्हारा विचार एक हो " यह पंक्ति समाज-दर्शन के मूल तत्व को व्यक्त करती है । जब यजुर्वेद कहता है, " हम सब को मित्र की सी स्नेहपूर्ण आँख से देखें, तो यह एक समाजशास्त्रीय तथ्य को व्यक्त करता है । शतपथ ब्राह्मण के यह शब्द "अँधकार से हटकर मुझे प्रकाश प्राप्त करना है" मनुष्य को सतत विकास की प्रेरणा देते हैं । भारत में इस प्रकार के विचारों से ओत-प्रोत अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनमें व्यक्ति और समाज के परमोच्च विकास के लिए अनेक महान सिद्धान्त और विचार प्रस्तुत किए गए हैं । इस सुदीर्घ वैचारिक परम्परा में आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य या कौटिल्य का विश्व इतिहास में एक अद्वितीय स्थान है ।

---

1. मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् । ऋग्वेद 10/53/6
2. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । ऋग्वेद 10/191/2
3. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । यजुर्वेद 36/18
4. तमसो मा ज्योतिर्गमय । शतपथ ब्राह्मण 14/3/1/30

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध - "चाणक्यसूत्राणि के सामाजिक दर्शन का आलोचनात्मक अनुशीलन" का मुख्य लक्ष्य "चाणक्य सूत्राणि" ग्रन्थ के सामाजिक चिन्तन का विश्लेषण करना है । सामाजिक - दर्शन अंग्रेजी के "सोशलफिलॉसफी" का हिन्दी रूपान्तर है । भारतीय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में लौकिक और पारलौकिक, समस्त विषयों पर गहन चिन्तन और अनुशीलन हुआ है, किन्तु विषयों के परिसीमीकरण और नामकरण के सम्बन्ध में भारत और पश्चिम में भिन्न - भिन्न परिदृष्टियाँ रही हैं । आधुनिक युग में पश्चिम की आधुनिक संदृष्टि और अध्ययन - पद्धति का भारत में ही नहीं विश्व में भी प्रचुर प्रभाव है । विश्व की वर्तमान ज्ञान -धारा से समन्वय और सामंजस्य करने के लिए यह एक अनिवार्य आवश्यकता है कि अपने प्राचीन भारतीय चिन्तन को वर्तमान युग में प्रचलित वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली तथा संदर्भों में विश्लेषित किया जाए, जिससे उस महान् चिन्तन की महत्ता और गुणवत्ता को आधुनिक युग के लिए प्रेरक और उपयोगी बनाया जा सकें । "चाणक्यसूत्राणि" विश्व के सामाजिक चिन्तन का एक महान ग्रन्थ है । आधुनिक समाज - दर्शन के संदर्भ में इसकी व्याख्या करने का इसीलिए प्रयास किया जा रहा है ।

पश्चिम में ज्ञान के दो मुख्य विभाजन किए जाते हैं । (1) प्राकृतिक विज्ञान, जैसे भौतिक शास्त्र, वनस्पति शास्त्र आदि तथा (2) मानविकी, जैसे दर्शन - शास्त्र, राजनीति - शास्त्र, अर्थशास्त्र, आदि ।[1] समाज दर्शन, दर्शन की एक शाखा के रूप में विकसित हुआ है । इसका अपना विशिष्ट क्षेत्र, अध्ययन-पद्धति और शोध - प्रणाली है ।[2] "चाणक्यसूत्राणि" के सामाजिक दर्शन का विश्लेषण करने से पूर्व समाज-दर्शन के आधुनिक तत्वों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर लेना मुख्य विषय को आत्मसात करने में विशेष सहायक होगा ।

---

1. डा० बी०एस० नरवणे, मानविकी पारिभाषिक कोश, पृ० 6
2. डा० राधाकृष्णन , हिस्ट्री ऑफ फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न

1. समाज - दर्शन की संकल्पना

समाज - दर्शन एक पारिभाषिक शब्द है । इसका एक विशिष्ट अर्थ है । शास्त्र या विज्ञान के इन विशिष्ट अर्थों को आत्मसात किए बिना मुख्य विषय का ठीक बोध नहीं होता । पश्चिमी विद्वान जे० डब्लू० गार्नर ने सावधान किया है, "प्रायः कुछ शब्दों के विशिष्ट या वैज्ञानिक और प्रचलित दोनों प्रकार के अर्थ होते हैं और दोनों अर्थों में अन्तर होता है, किन्तु इनका प्रयोग प्रायः इनके अन्तर पर विचार किए बिना ही किया जाता है । शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग से भ्रान्ति और मिथ्या बोध उत्पन्न होता है ।"[1] हमारे संस्कृत के आचार्यों ने संसार में सबसे अधिक शब्द की महत्ता पर विचार किया है । यथा "एक शब्द के सम्यक् ज्ञान और प्रयोग से सभी कामनाओं की पूर्ति होती है ।"[2] शब्द-दैतवाद या स्फोटवाद के दार्शनिक भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्द की महत्ता प्रतिपादित की है । उनका कथन है कि संसार का समस्त कार्य - व्यापार शब्द पर ही आश्रित है ।[3] महाकवि दण्डी भी कहते हैं, उचित प्रयोग होने से कामधेनु के समान शब्द सर्वार्थ सिद्ध करता है और अनुचित रूप से प्रयोग होने से प्रयोग करने वाले की मूर्खता को प्रमाणित करता है ।"[4]

---

1. जे० डब्लू० गार्नर, पालिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेन्ट, पृ० 2
2. एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च
   कामधुग् भवति । महाभाष्य
3. इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यापाश्रया ।
   यां पूर्वाहित संस्कारैः बालोऽपि प्रतिपद्यते ।
   -- वाक्यपदीय, भर्तृहरि
4. गौर्गौः काम दुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मयते बुधैः ।
   दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैवं सति ।
   -- दण्डीकृत काव्यादर्श

पश्चिमी विद्वानों ने समाज और दर्शन दोनों पक्षों पर अत्यन्त गहन और वैज्ञानिक चिन्तन किया है।[1] यहाँ दोनों शब्दों पर संक्षेप में विचार करने का प्रयास किया जाएगा।

1क। <u>समाज का अर्थ</u> :- संस्कृत भाषा में "समज" और "समाज" दो शब्द है। समज का अर्थ पशुओं का समुदाय है और समाज का अर्थ मनुष्यों का समुदाय है। समाज शब्द में तीन शब्द हैं - सम, आ, अज। सम का अर्थ है एक साथ मिलकर, आ का अर्थ है विधिपूर्वक या ढंग से, अज का अर्थ है गति करना या फेंकना। इस प्रकार समाज का अर्थ हुआ जहाँ व्यक्ति मिलकर नियमानुसार कार्य करते हैं, उसे समाज कहते हैं।

हम सब इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि मनुष्य मनुष्यों से पृथक रहकर अपने मानवीय अस्तित्व को रक्षा नहीं कर सकता है। यदि वह मनुष्य की भाँति रहना चाहता है तथा अपने अस्तित्व को रक्षा करना चाहता है, तो उसे अपने आस - पास के व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने होंगे। व्यक्तियों के इन सम्बन्धों को समाज कहते हैं।[2]

सामाजिक संबंध मनुष्य के प्रत्येक संबंध को नहीं कहते हैं। उदाहरण के लिए, दो व्यक्ति रेलगाड़ी के डिब्बे में पास - पास बैठे हैं। उनके एक-दूसरे के निकट होने तथा साथ - साथ यात्रा करने से जो सम्बन्ध स्थापित हो रहा है, उसे सामाजिक संबंध नहीं कहेंगे।

---

1. डा० देवराज, पश्चिमी दर्शनों का इतिहास
2. गिलिन एण्ड गिलिन, कल्चरल सोसियोलाजी, पृ० 9।

लेकिन यदि दोनों व्यक्ति एक-दूसरे से परिचित हो जाते हैं, तो वहाँ सामाजिकता आ जाती है तथा इस प्रकार उनके परिचय से जो क्रिया होती है, उससे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। ये सम्बन्ध परिवार और परिवार से बाहर रहने वाले अनेक व्यक्तियों से होते हैं।[1] ये इतने अधिक और व्यापक होते है कि इन सब का उल्लेख सम्भव नहीं है। समाज इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों के जाल को कहते हैं। इनके द्वारा ही हममें से प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से संबंधित होता है। समाजशास्त्री जिन्सबर्ग ने समाज की परिभाषा करते हुए कहा है, "समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो कुछ सम्बन्धों या व्यवहार की विधियों द्वारा संगठित है तथा उन व्यक्तियों से भिन्न है, जो इन सम्बन्धों में नहीं बँधे हुए हैं या जो व्यवहार में उनसे भिन्न हैं।"[2] एच० एच० हॉब्हिन्स ने अधिक स्पष्ट रूप में कहा है, "हम अपने अभिप्राय के लिए समाज की परिभाषा इस प्रकार करते सकते हैं कि वह पुरुषों, स्त्रियों एवं बालकों का कोई स्थायी या अविराम समूह है, जो कि अपने सांस्कृतिक स्तर पर स्वतंत्र रूप से प्रजाति की उत्पत्ति एवं उसके पोषण की क्रियाओं का प्रबन्ध करने में समर्थ होता है।"[3]

---

1. आर० एम० मैकाइवर, दि एलीमेण्ट्स आफ सोशल साइन्स, पृ० 143
2. एम० जिन्सबर्ग, सोसियोलाजी, पृ० 31
3. एच० एच० हॉब्हिन्स, एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ सोसायटी पृ० 444

जे० गिलिन का मत है, "एक समाज सबसे अधिक तुलनात्मक दृष्टि से स्थायी समूह है, जो कि सामान्य स्थायी, सामान्य भू-भाग, सामान्य प्रकार का रहन - सहन और सामान्य पारस्परिक सहयोग या अनन्यता की भावना रखता है, जिनके आधार पर वे अपने को बाहर वालों से पृथक करते हैं।"[1]

मनुष्य की आवश्यकताएं और प्रकृति उसे अन्य व्यक्ति के साथ रहने के लिए विवश करती हैं। उसका जीवन मनुष्यों के बिना असम्भव है। यदि मनुष्य मनुष्य के रूप में रहना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह दूसरे मनुष्यों से सम्बन्ध स्थापित करें और दूसरे व्यक्तियों के हितों और संबंधों के प्रति जागरूक रहे। व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध ही समाज है। समाज की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं - समाज में जीवन है, समाज में समरूपता है, समाज में विषमरूपता है, समाज में अन्योन्याश्रितता है और समाज में सहकारिता है।[2] समाज व्यक्ति की आध्यात्मिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा उसकी उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करता है।

(3) दर्शन का अर्थ :- दर्शन शब्द का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात् जिससे देखा जाए।[3] अब प्रश्न है कि कौन पदार्थ देखा जाए? दर्शन शास्त्र इसका उत्तर देता है कि वस्तु का तत्त्वभूत पक्ष देखा जाए। इस प्रकार अनुभूति, तर्क और युक्ति संगत व्याख्याओं के द्वारा किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, दार्शनिक चिन्तन का उद्देश्य है। अनुभूतियाँ द्विविध होती हैं। (1) ऐन्द्रिय और (2) अतीन्द्रिय।

---

1. जे० गिलिन, दि केस ऑफ मैन, पृ० 340
2. आर० एम० मैकाईवर, सोसायटी, पृ० 35
3. डा० राजबली पान्डेय, हिन्दू धर्म कोश, पृ० 315

दोनों का अध्ययन दर्शन के अन्तर्गत आता है । परन्तु वस्तु की वास्तविक सत्ता का हस्तामलकवद् अपरोक्ष ज्ञान अतैन्द्रिय । आध्यात्मिक। अनुभूति के द्वारा ही सम्भव है, केवल ऐन्द्रिय अनुभूति ~~के द्वारा ही असम्भव है, केवल ऐन्द्रिय अनुभूति~~ भ्रमात्मक एवं यथार्थ रहित होती है । अतैन्द्रिय अनुभूति में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय एक हो जाते हैं । यह साधना द्वारा प्राप्तव्य है ।

पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दार्शनिक अनुचिन्तन के मूल में बहुत अन्तर है । जहाँ पाश्चात्य दर्शन में "फिलोसफी" का प्रारम्भ आश्चर्य से होता है, वहीं प्राच्य दार्शनिकों के अभिमत में ।चार्वाकों के अतिरिक्त। दार्शनिक चिन्तन की उत्पत्ति जिज्ञासा से ही नहीं, अपितु दुःख का नाश करने की इच्छा से है और उसका उद्देश्य मोक्ष । दुःख से आत्यान्तिक निवृत्ति। प्राप्त करना है ।[1] इस प्रकार जीवन के अभीष्ट लक्ष्य परमानन्द का लाभ प्राप्त करना दर्शन का ध्येय है ।

दर्शन की अनेक परिभाषाएं की गई हैं । कान्ट ने कहा है, "दर्शन ज्ञान का विज्ञान तथा समालोचना है।" प्लेटो का मत था कि दर्शन का उद्देश्य अनन्त का तथा वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है।[2] डा० जे०एन० सिन्हा का मत है कि दर्शन को हम वस्तुओं के सम्यक् विचारीकरण की कला कह सकते हैं । वह आगे कहते हैं , कि "दर्शन जीवन कीआलोचना है । यह मानवीय जीवन के स्वरूप, तात्पर्य, प्रयोजन, प्रारम्भ तथा अन्त के प्रश्नों में प्रविष्ट होता है।यह जीवन, उसके मूल तथा उसके तात्पर्य की व्याख्या है । उसके उद्गम तथा उसकी लय से दर्शन का सम्बन्ध है । यह चरम आदर्शों के स्वरूप तथा जीवन के मूल्यों का अन्वेषण करता है ।"[3]

---

1. डा० जे० एन० सिन्हा, भारतीय दर्शन, पृ० ।
2. डा० जे० पी० अवस्थी, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, पृ० 24
3. डा० जे० एन० सिन्हा, दर्शन की रूपरेखा, पृ० 3

दर्शन की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । यह सब विषयों पर विचार करता है, लेकिन यह विचार करने की कला तर्क पूर्ण और विधिपूर्वक होती है । इस दृष्टि से दार्शनिक केवल आत्मा और परमात्मा का ही अनुचिन्तन नहीं करता है बल्कि उस समाज पर भी विचार करता है, जिसका व्यक्ति सदस्य होता है । यहीं से समाज - दर्शन का आरम्भ होता है ।[1]

(ग) समाज - दर्शन की परिभाषा :-

समाज पर प्रत्येक व्यक्ति कुछ - न - कुछ विचार करता है, लेकिन उसे समाज - दर्शन की संज्ञा नहीं दी जा सकती; क्योंकि सामान्य व्यक्ति का चिन्तन क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित और तर्क पूर्ण नहीं होता । दर्शन - शास्त्र की अपनी अध्ययन पद्धति है, एक प्रणाली है और एक प्रक्रिया है ।[2] उसका अनुपालन किए बिना समाज सम्बन्धी किसी चिन्तन को दर्शन नहीं कहा जा सकता । पश्चिम में विद्वानों ने दर्शन के अनेक भेद - उपभेद किए हैं। उनमें जिन विषयों के सामान्य सिद्धान्तों का तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक विवेचन किया गया है, उसे उस विषय को दर्शन कहते हैं, जैसे - इतिहास - दर्शन, साहित्य-दर्शन इसी प्रकार का दर्शन है, जो समाज की संरचना, संस्थाओं, परिवर्तनों, प्रक्रियाओं, आदर्शों, आदि का व्यवस्थित विवेचन है । समाज - दर्शन के विश्व - विख्यात आचार्य जे० एस० मैकेंजी ने समाज - दर्शन की स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहा है, "समाज-दर्शन विशेष रूप से मानव जाति के सामाजिक संगठन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उस संगठन के साथ वह मानव - ~~जीवन के~~ जीवन के सामाजिक पहलुओं के महत्व की व्याख्या करने का प्रयास

---

1. डा० देवराज, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, पृ० 10
2. वही, पृ० 5

करता है । यह विशेष रूप से जीवन के मूल्यों, उद्देश्यों तथा आदर्शों का अध्ययन करता है, परन्तु उनका अध्ययन नहीं जो प्राथमिक रूप से अपेक्षित हैं, या रहे हैं, या अपेक्षित हो सकते हैं, किन्तु जीवन के इन रूपों का अर्थ और महत्व लिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि कुछ विशेष समाज - विज्ञान जिन बातों की पुष्टि करते हैं, यह उनकी उपेक्षा करता है । दर्शन - शास्त्र में किसी भी बात की उपेक्षा करना अन्यावह है । समाज - दर्शन का विशेष कार्य तथ्यों की खोज करना नहीं, क्योंकि इसे अन्य विज्ञानों से अपने तथ्य ग्रहण करने पड़ते हैं । परन्तु यह उनका विश्लेषण करने की चेष्टा करता है ।"[1] ई० एस० बोगर्डस का मत है कि समाज - दर्शन समाज की परिस्थितियों के वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर मानवीय व्यक्तित्व एवं समाज की व्याख्या प्रस्तुत करता है ।[2] जिन्सबर्ग के अनुसार समाज - दर्शन का मुख्य ध्येय मानव - व्यवहार सम्बन्धी सामान्य नियमों को सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में चिन्तन - मनन द्वारा खोज निकालना है ।[3]

समाज मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है । मनुष्य के अस्तित्व और विकास दोनों समाज पर निर्भर करते हैं । यह समाज कैसा हो जिसमें मनुष्य का अधिकतम विकास हो सके ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने का प्रयत्न समाज - दर्शन करता है। समाज - दर्शन समाज का निरीक्षण-परीक्षण करके उन सिद्धान्तों, नियमों और विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, जिनके अनुसरण से व्यक्ति, सभ्यता और संस्कृति प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सकें । समाज - दर्शन उन अवरोधों की ओर भी इंगित करता है, जो समाज की प्रगति में बाधक होते हैं ।

---

1. जे० एस० मैकेंजी, समाज - दर्शन की रूपरेखा, पृ० 2
2. ई० एस० बोगार्डस, सोशियोलाजी, पृ० 565
3. एम० जिन्सबर्ग, सोशियोलाजी, पृ० 26

1घ। समाज - दर्शन की भारतीय और पाश्चात्य धारणा में साम्य और अन्तर ।

उपर्युक्त विवेचन का यह आशय नहीं है कि समाज - दर्शन केवल पश्चिम की देन है, भारत में इसका अस्तित्व नहीं था । वास्तव में विश्व के इतिहास में सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में सर्वप्रथम और सर्वाधिक गम्भीर चिन्तन केवल भारतवर्ष में हुआ है । ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ है । वेदों और उपनिषदों में समाज और मनुष्य के कल्याण के लिए प्रचुर निर्देश प्राप्त होते हैं यथा "सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै हमारा एक साथ विकास करें, हमारा एक साथ रक्षण करें । हम एक साथ पराक्रम करें। तेजस्वी हो। हम परस्पर द्वेष न करें ।"[1] वेद का यह शान्ति मंत्र शाश्वत समाज - दर्शन का प्रतीक है । वेदों के उपरान्त सर्वाधिक सुव्यवस्थित सामाजिक चिन्तन धर्मशास्त्रों और नीति शास्त्रों में हुआ है । विद्वानों का मत है कि मनुस्मृति संसार की सबसे प्राचीन सामाजिक संहिता है । डा० केवल मोटवानी यह घोषित करते हैं कि प्राग् ऐतिहासिक काल से लेकर आज तक अनेक राष्ट्रों और सभ्यताओं के मानवीकरण में मनु का योगदान रहा है ।[2] इसके उपरान्त अनेक राष्ट्रों--अपने समाज - शास्त्र के आचार्यों और नीति- शास्त्रियों ने सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में अति उच्च कोटि का विवेचन प्रस्तुत किया है, जिनमें कौटिल्य का अग्रिम स्थान माना जाता है । विदेश के अनेक विद्वानों को कौटिल्य के चिन्तन की महानता को स्वीकार करना पड़ा, जिनमें जैकोबी, मेयर, ब्रेलोइयर, स्मिथ, प्लीट, विन्टर नित्स, कीथ आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।[3] यदि हम पश्चिम के समाज - दर्शन के समकक्ष भारत में खोज करें, तो यह कह सकते हैं, कि समाज - दर्शन का पर्याय नीति - शास्त्रों को तथा धर्म- शास्त्रों को कहा जा सकता है ।

---

1. कृष्ण यजुर्वेद
2. डा० केवल मोटवानी, मनुधर्म शास्त्र, पृ० 326
3. बी० के० सरकार० दि पॉज़िटिव बैकग्राउन्ड ऑफ हिन्दू सोसियोलाजी

:: II ::

भारत और पश्चिम की समाज - दर्शन की संकल्पना में मुख्य अन्तर यह है कि भारतीय सामाजिक दर्शन आध्यात्म से अनुप्राणित है । इसके चिन्तन का मुख्य आधार मूलतः वेद हैं । भारत में धर्म ही एक प्रकार से समाज - दर्शन का पर्याय हो गया था। यहाँ धर्म में जीवन के समस्त पक्षों का समाहार कर दिया गया था । इसीलिए स्मृतियों आदि में धर्म के साथ - साथ परिवार-व्यवस्था, समाज- व्यवस्था, राज- व्यवस्था, शिक्षा - प्रणाली, अर्थ - व्यवस्था, आदि का विवेचन प्राप्त होता है । डा० विनय कुमार सरकार ने अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ "पॉज़िटिव बैकग्राउन्ड आफ हिन्दू सोसियोलाजी" में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि भारत के नीति - शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ ही भारतीय समाज - दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।[1]

पश्चिम की समाज - दर्शन की संकल्पना अधिकांशतः धार्मिक या आध्यात्मिकता प्रधान न होकर, धर्म निरपेक्ष है । यह किसी धार्मिक दर्शन या ईश्वर की सत्ता को केन्द्र में रखकर सामाजिक व्यवस्था पर चिन्तन करना उचित नहीं समझती है । दूसरा अन्तर यह है कि पश्चिमी समाज - दर्शन अधिक क्रमबद्ध और व्यवस्थित है । उसमें अध्ययन और विश्लेषण में वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग किया गया है । लेकिन ऐसा यहाँ भी प्राचीनकाल में नहीं हुआ है। पद्धति की वैज्ञानिकता पश्चिम में भी आधुनिक युग की देन है । भारतीय समाज - दर्शन अत्यधिक सूक्ष्म और व्यापक है । ✓ इसमें व्यक्ति के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष पर जितना अधिक निर्देश दिया गया है, उतना संसार के किसी सामाजिक दर्शन में नहीं उपलब्ध होता । धर्म - शास्त्रों और नीति - ग्रन्थों में छोटी - से - छोटी समस्या के लिए स्पष्ट नियम और निर्देश प्राप्त होते हैं । पश्चिमी दर्शन कतिपय गुणों को आधार बनाकर अपने दर्शन का निर्माण करता है । भारतीय समाज - दर्शन

---

1. डा० बी० के० सरकार० पॉज़िटिव, बैकग्राउन्ड ऑफ हिन्दू सोसियोलाजी, पृ०53

धर्म , अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों को लक्ष्य में रखकर केसमाज में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करता है ।[1] अल्बर्ट स्विट्जर जैसे विचारकों ने भ्रमवश यह आरोप लगाया है कि भारतीय समाज - दर्शन एकांगी और परलोक वादी है ।[2] लेकिन पुरुषार्थ चतुष्टय के सिद्धान्त, वर्णाश्रम - व्यवस्था का सम्यक् अनुशीलन करने से स्पष्ट होता है कि भारतीय सामाजिक दर्शन लोक और परलोक दोनों में समुचित समन्वय स्थापित करता है।[3]

2. समाज - दर्शन की विषय - वस्तु ।

समाज - दर्शन की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि समाज - दर्शन क्या है । लेकिन विषय- वस्तु को अधिक स्पष्ट करने के लिए किंचित् और विचार कर लेना समीचीन होगा । आधुनिक युग में पश्चिम के महान समाज दार्शनिक जे० एस० मैकेंजी का महत्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने समाज - दर्शन की विषय- वस्तु को स्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । उनकी पुस्तक "समाज - दर्शन की रूपरेखा" में समाज - दर्शन की विषयवस्तु को निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त किया गया है - (1) मानव -प्रकृति, (2) समुदाय, (3) सामाजिक प्रक्रियाएं, (4) परिवार (5) शैक्षणिक संस्थाएं (6) औद्योगिक संस्थान, (7) राज्य, (8) न्याय (9) सामाजिक आदर्श, (10) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, (11) धर्म का स्थान, (12) तथा संस्कृति का स्थान ।[4]

---

1. डा० पी० एन० प्रभु, हिन्दू सोशल ऑर्गनाइजेशन, पृ० 79
2. अल्बर्ट स्विट्जर, इन्डियन थॉट्स एण्ड इट्स डेवलपमेन्ट, पृ० 7
3. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूधर्म - कोश, पृ० 368
4. जे० एस० मैकेंजी, समाज - दर्शन की रूपरेखा, पृ०7- 9

समाज - दर्शन के इन शीर्षकों को देखने से यह स्पष्ट बोध होता है कि समाज - दर्शन व्यक्ति, सामाजिक संरचना तथा इसके समस्त पक्षों पर विचार करता है । यह केवल किसी एक समाज के संगठन और निर्माण के सम्बन्ध में चिन्तन नहीं प्रस्तुत करता है, बल्कि ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है जो सार्वभौम रूप से सम्पूर्ण मानवता के लिए या विश्व समाज के लिए कल्याण-कारी हैं ।

इस संदर्भ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि समाज - दर्शन ।सोशल फिलोसफी । और समाज - शास्त्र ।सोसियोलाजी। दो विज्ञान हैं । दोनों समाज के सम्बन्ध में विचार करते हैं । किन्तु दोनों की संदृष्टियों में अन्तर है । समाजशास्त्र वैज्ञानिक अधिक है और समाज - दर्शन दार्शनिक । समाज शास्त्री एक वैज्ञानिक की भाँति यह उद्घाटित करता है कि समाज की क्या स्थिति है, क्या रूप है और समाज - दर्शन यह निर्देशित करता है कि मानवता के कल्याण के लिए समाज का स्वरूप क्या होना चाहिए । समाज - शास्त्र विज्ञान के अधिक निकट है और समाज - दर्शन नीतिशास्त्र के । हमारे प्राचीन भारत के सामाजिक चिन्तक समाज - दार्शनिक अधिक थे । उन्होंने अपने विराट अनुभव और ज्ञान के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि समाज का रूप कैसा होना चाहिए, व्यक्ति के क्या आदर्श हों, तथा राज्य के क्या लक्ष्य हों, जिससे सम्पूर्ण मानव - समाज प्रगति कर सके।[1]

"धर्मसूत्र-ग्रन्थ" इसी परम्परा का एक महान् ग्रन्थ है जिसमें सामाजिक चिन्तन की अति सुन्दर प्रणाली के दर्शन होते हैं ।

---

1. डा० राम नारायण व्यास, समाज दर्शन, पृ० 7

3. समाज - दर्शन का क्षेत्र ।

महान् भारत - विद्या विद् और कला दर्शन के आचार्य डा० आनन्द कुमार स्वामी ने एक महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया है कि आधुनिक यूरोप और भारत के औसत मनुष्यों के दर्शन के महत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है । यूरोप और अमेरिका में दर्शन - शास्त्र स्वयं में साध्य है अर्थात् दर्शन दर्शन के लिए है, समाज के लिए नहीं । यहाँ कुछ इसी प्रकार की धारणा है । इसी लिए सामान्य मनुष्य के लिए इसका कोई महत्व नहीं है । कुमार स्वामी कहते हैं कि भारत में इसके विपरीत स्थिति है, यहां दर्शन मानसिक व्यायाम नहीं है, बल्कि प्रगाढ़ रूप से मोक्ष के भाव से जुड़ा हुआ है । यह भारतीयों को जीवन का अर्थ प्रदान करता है तथा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन निर्धारित करता है ।[1] इस मूलभूत भिन्नता के कारण पश्चिमी समाज - दर्शन के क्षेत्र की अवधारणा और अध्ययन - पद्धति में अन्तर परिलक्षित होता है ।

पश्चिम के समाज वैज्ञानिक जे० एन० कीन्स ने यह लिखा है कि किसी विषय के वैज्ञानिक विधि से अनुशीलन के लिए उस विषय के क्षेत्र को स्पष्ट रूप से आत्मसात कर लेना चाहिए । वह क्षेत्र के अन्तर्गत तीन बातों को महत्व देता है - (1) विषय- वस्तु (2) विषय की प्रकृति तथा (3) विषय की सीमाएँ। विषय वस्तु का आशय यह है कि इस विषय के अन्तर्गत किन विषयों का अनुशीलन होगा । समाज - दर्शन के सम्बन्ध में इन विषयों का विवेचन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं । प्रकृति का आशय यह है कि इस विषय का अध्ययन किस पद्धति से किया जाएगा अर्थात् विज्ञान के रूप में या दर्शन के रूप में । सीमा का आशय यह है कि विवेच्य विषय में किन सीमाओं के आगे नहीं जाया जाएगा ।

---

1. डा० आनन्द कुमार स्वामी, दि डान्स ऑफ शिवा, पृ० 23

जहाँ तक समाज - दर्शन की प्रकृति का सम्बन्ध है, इसे विज्ञान नहीं कहा जा सकता। यह एक कला या दर्शन है । विज्ञान केवल यह बोध कराता है कि अमुक वस्तु क्या है, लेकिन कला या दर्शन में ये भी निर्देश किया जाता है कि अमुक वस्तु को क्या होना चाहिए ? समाज - दर्शन क्या है से सम्बन्धित नहीं है, अपितु मनुष्य और समाज को क्या होना चाहिए से सम्बन्धित है । यद्यपि समाज - दर्शन विज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग करता है, लेकिन विज्ञान की शैली का अनुसरण नहीं करता । तथापि इसे पूर्ण रूप से अवैज्ञानिक भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह समाज के विभिन्न पक्षों के विश्लेषण में अनेक वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग भी करता है । विज्ञान किसी विषय के क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित और अनुभूतिजन्य अध्ययन को कहते हैं। इस दृष्टि से समाज - दर्शन भी एक विज्ञान तो नहीं है, लेकिन वैज्ञानिक पद्धति के निकट भी है ।

समाज - दर्शन की कुछ सीमाएँ हैं। यह कवि या दार्शनिक की तरह कल्पना की उड़ानें नहीं भरता है । इसके पैर सदा धरातल पर रहते हैं, अर्थात् इसका चिन्तन समाज के वास्तविक और प्रकट रूप से सम्बन्धित होता है । इसके सिद्धान्त व्यावहारिक और साध्य होते हैं। यह दुरूह और असम्भव कल्पनाओं से परे रहने का प्रयास करता है । इसके अतिरिक्त इसका दर्शन किसी एक समाज या राष्ट्र के लिए न होकर सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए होता है ।

४. समाज - दर्शन की अध्ययन - पद्धति :

समाज - दर्शन समाज का अध्ययन करता है । लेकिन समाज का अध्ययन करने के अन्य विषय भी करते हैं, जैसे - समाज - शास्त्र, नृतत्त्व-शास्त्र, धर्मशास्त्र, आदि । इन विषयों में अध्ययन की अनेक समुन्नत एवं वैज्ञानिक प्रणालियाँ विकसित हो गई हैं । समाज - दर्शन इन विषयों की पद्धतियों का यथा सम्भव उपयोग करता है तथा इन विज्ञानों से उपलब्ध तथ्यों का उपयोग भी करता है । लेकिन मुख्य रूप से समाज-दर्शन

की पद्धति तार्किक होती है अर्थात् इसमें दर्शन - शास्त्र में प्रयुक्त होने वाली प्रणालियों का सम्यक् उपयोग होता है । टेलर का यह कथन यहां ठीक है कि दार्शनिक के पास अनुसन्धान की केवल एक रीति है और वह बौद्धिक मनन व तथ्यों का निरीक्षण और परीक्षण करके उनकी व्याख्या करना है । विज्ञान की भांति यह भी अपने प्रयोजन को तर्क, विश्लेषण तथा संश्लेषण की कठिन रीति द्वारा ही प्राप्त करता है ।[1] इस दृष्टि से हमारे प्राचीन ऋषियों और मनीषियों का ज्ञान वैज्ञानिक ही कहा जाएगा ; क्योंकि वह पूर्ण रूप से अनुभूति और अध्ययन पर आधारित था। हमारे विवेच्य ग्रन्थ "चाणक्य सूत्राणि" के रचयिता आचार्य चाणक्य महान मेधावी पुरुष थे और उन्हें व्यावहारिक जगत का विलक्षण अनुभव था ।

प्रयोग और पर्यवेक्षण के द्वारा जो अनुभव प्राप्त किया जाए उसे क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना, वैज्ञानिक लेखन की पद्धति है। इस प्रकार वैज्ञानिक लेखन में भावना की अपेक्षा तर्क की प्रधानता रहती है। आचार्य चाणक्य ने स्वयं अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में विद्याओं के विवेचन में आन्वीक्षकी को सर्वाधिक महत्व दिया है । यह आन्वीक्षकी वैज्ञानिक पद्धति का प्रतीक है । आन्वीक्षकी के अन्तर्गत सांख्य, योग और लोकायत आते हैं । लोकायत को प्रचलित अर्थ नास्तिक दर्शन है, लेकिन लोकायत तर्क शास्त्र के रूप में भी मान्य रहा है ।[2] आन्वीक्षकी के लिए चाणक्य ने कहा है कि यह मनुष्य को सोचने - विचारने तथा कार्य करने में सक्षम बनाती है । यह सर्वदा ही सब विद्याओं का प्रदीप, सब कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय मानी गई है ।[3] आचार्य चाणक्य ने राज्य और समाज का अति सूक्ष्मनिरीक्षण और परीक्षण किया था । इसलिए उनका

---

1. टेलर, दि प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी, पृ0 8।
2. डी0 पी0 चट्टोपाध्याय, लोकायत, पृ0 24-25
3. प्रदीप : सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।

[illegible] । कौ0 अ0 1/1/1

समाज - दर्शन वैज्ञानिक ही कहा जायेगा । यहाँ केवल अध्ययन की सुविधा और शोध के आधुनिक मानदण्डों के अनुसार उनके ग्रन्थ की विषयवस्तु का विश्लेषण आधुनिक समाज दर्शन के तत्वों के आधार पर करने का प्रयास किया जायगा ।

5. भारतीय सामाजिक - दर्शन का अद्वितीय स्वरूप ।

भारत का समाज - दर्शन विश्व के अन्य समाज दर्शनों की तुलना में कई दृष्टियों से अद्वितीय और अद्वितीय है । सर्वप्रथम भारतीय समाज-दर्शन विश्व में प्राचीनतम है ।" पश्चिमी विद्वान कुछ समय पूर्व तक विश्व समाज - दर्शन का विवेचन करते समय सुकरात और प्लेटो से प्रारम्भ करते थे। सुकरात का कार्यकाल 470 से 399 ईसा पूर्व माना गया है और प्लेटो का 427 से 347 ईसा पूर्व माना गया है । बाद में जब पश्चिमी विद्वानों को ज्ञात हुआ कि भारत में सुकरात और प्लेटो के बहुत पूर्व उच्च कोटि का सामाजिक चिन्तन हो चुका था, तो उन्हें अब भारत की वरीयता स्वीकार करनी पड़ी।" ।

वेदों में ऋग्वेद का रचनाकाल ईसा पूर्व छः हजार वर्ष माना जाता है । कुछ लोग इस काल को ईसा पूर्व एक हजार वर्ष मानते हैं । किसी भी स्थिति में यह पश्चिमी समाज - दर्शनों की तुलना में पुराना सिद्ध होता है । प्रमुख धर्म सूत्रों और गृह्य सूत्रों की रचना ईसा पूर्व छः सौ वर्ष मानी जाती है । कौटिल्य का कार्यकाल ईसा पूर्व तीन सौ के आस-पास माना जाता है । मनुस्मृति प्राचीनतम सामाजिक नियमों की लिपि-बद्ध संहिता है, जिसकी प्राचीनता और महानता के सम्बन्ध में मदाम ब्लावतस्की[2], आउस्पेंस्की, मेटरलिंक[3], डा० एनीबेसेन्ट[4] आदि विदेशी

---

1. बेकर एण्डवान्स, सोशल थॉट फ्रॉम लोर टु साउन्स, पृ० 43
2. ब्लावतस्की, आइसिस अन्वेल्ड
3. मोरिस मेटरलिंक, दि ग्रेट सीक्रेट
4. एनी बेसेन्ट, दि एन्सिएन्ट विजडम

विद्वानों ने बड़े उदात्त विचार व्यक्त किए हैं । नीत्से ने तो मनुस्मृति के सम्बन्ध में कहा था कि बाइबिल को बन्द करो, मनुस्मृति को खोलो । डा० भगवान दास[1], डा० केवल मोटवानी[2] आदि ने अपने पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थों से प्रमाणित कर दिया है कि मनुस्मृति सामाजिक दर्शन का विश्व में अद्वितीय ग्रन्थ है । इसके अतिरिक्त भारतीय धर्मशास्त्रों, नीति-ग्रन्थों, महाकाव्यों आदि में सामाजिक दर्शन के सम्बन्ध में अक्षय विचार प्राप्त होते हैं। इतना विशाल भंडार किसी देश के साहित्य में नहीं प्राप्त होता । भारतीय समाज - दर्शन केवल प्राचीन और विशाल नहीं, बल्कि यह अत्यधिक व्यापक, सूक्ष्म और गम्भीर भी है । उदाहरण के लिए, विश्व की किसी प्राचीन सभ्यता में वर्णाश्रम का विचार इतने स्पष्ट रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया । इतना ही नहीं इस चिन्तन को व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया गया अर्थात् समाज इस चिन्तन के आधार पर संगठित किया गया ।

इसी प्रकार परिवार, विवाह, संस्कार, व्यक्तित्व निर्माण के, राज्य व्यवस्था और धर्म के सम्बन्ध में जितना गम्भीर चिन्तन प्राचीन काल में भारत में हुआ, । जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया था, "यदि मुझसे पूछा जाए कि किस देश में मानव मस्तिष्क ने अपनी मुख्यतम शक्तियों को विकसित किया, जीवन के बड़े - से-बड़े प्रश्नों पर विचार किया और ऐसे समाधान ढूँढ निकाले, जिनको और प्लेटो और काण्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए, तो फिर मैं भारतवर्ष की ओर संकेत करूंगा । यदि मैं आपसे पूछूं - किस साहित्य का आश्रय लेकर सेमेटिक

अतना किसी देश में नहीं हुआ

---

1. डा० भगवान दास, दि साइंस ऑफ सोशल आर्गनाइजेशन
2. डा० केवल मोटवानी, मनु धर्मशास्त्र

यूनानी और केवल रोमन विचारधारा में बहते हुए योरोपीय अपने आध्यात्मिक जीवन को अधिकाधिक विकसित, अत्यन्त विश्वजनीन, उच्चतम मानवीय बना सकेंगे - जो जीवन के इहलोक से ही सम्बद्ध न हो, अपितु शाश्वत एवं दिव्य हो। तो फिर मैं भारतवर्ष की ओर संकेत करूंगा।"[1]

यहाँ की वर्ण - व्यवस्था के सम्बन्ध में पी० डी० आउस्पेन्स्की ने कहा है कि वर्ण-व्यवस्था आदर्श सामाजिक संगठन का प्रतिनिधित्व करता है। निस्सन्देह यही स्वाभाविक विभाजन है। मानव - समाज का समुचित विकास केवल इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने तथा इसके अनुसार चलने में ही सम्भव है। वर्ण- सिद्धान्त ने मनुष्य को सही मार्ग दिखाया है।[2] विश्व के अन्य सामाजिक दर्शन अधिकांशतः स्वप्न -लोकीय रहे, उन्हें व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका। यहाँ का सामाजिक दर्शन हजारों वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था, आज भी यह समाज में किसी-न - किसी रूप में विद्यमान है। पश्चिमी विद्वान ए० एल० बाशम ने कहा है, -"भारत की प्राचीन संस्कृति ~~के अन्य~~ दृष्टि-में मिस्र, मेसोपोटामिया तक यूनान की संस्कृति से इस दृष्टि में भिन्न है कि उसकी परम्पराएं अविच्छिन्न रूप से आज तक सुरक्षित रखी गई हैं। भारत में आने वाले योरोपीय यात्रियों ने यहाँ एक ऐसी संस्कृति पाई, जिसमें हजारों वर्षों से कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन नहीं हुआ। आज भी जो पौराणिक गाथाएं सामान्य - से - सामान्य भारतीय को ज्ञात हैं, उन विस्मृत नायकों का स्मरण दिलाती हैं, जो ईसा के एक सहस्त्र वर्ष पूर्व रहे थे। कट्टर पंथी ब्राह्मण अपने दैनिक पूजा - पाठ में उन मंत्रों को दोहराते हैं, जो इससे भी पहले रचे गए थे। वस्तुतः संसार में भारत में ही प्राचीनतम परम्पराएं प्रचलित हैं।[3]

---

1. एम० मैक्समूलर के० एम०, इण्डिया व्हाटकैनइट टीच अस, पृ० 6
2. पी० डी० आउस्पेन्स्की, ए न्यू मॉडल ऑफ यूनिवर्स, पृ० 508
3. ए० एल० बाशम, अद्भुत भारत, पृ० 4

भारतीय सामाजिक दर्शन केवल भारत तक परिसीमित नहीं रहा, अपितु विश्व के अनेक देशों ने इसे स्वीकार किया । डा० केवल मोटवानी ने अपने मनु धर्म शास्त्र शीर्षक शोध - प्रबन्ध में यह प्रमाणित किया है कि मनु का प्रभाव यूनान, मिस्त्र, ईरान, सीरिया, सुमेरिया, मंगोलिया, फिलीपोन्स, जापान, आस्ट्रेलिया, बर्मा, स्याम, बालि, कम्बोडिया, लंका आदि विश्व के अनेक देशों पर पड़ा है ।[1]

कौटिल्य इसी महान सामाजिक दार्शनिक परम्परा के एक महान विचारक हैं । इन्होंने समाज - दर्शन को एक नया रूप और नई दिशा प्रदान की है । कौटिल्य के सामाजिक चिन्तन का विवेचन करने के पूर्व हम उस प्राचीन परम्परा का एक संक्षिप्त विहंगावलोकन करेंगे, जिससे कौटिल्य अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध थे। यह सर्वेक्षण हमें कौटिल्य के वैचारिक महत्वदान की मौलिकता, सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता का परिदर्शन कराने में सहायक होगा।

---

1. डा० केवल मोटवानी, मनु धर्म शास्त्र, पृ० 191 - 356

38

कौटिल्यकृत

'चाणक्यसूत्राणि' के सामाजिक दर्शन

का

आलोचनात्मक अनुशीलन

द्वितीय खण्ड : परिपार्श्व

अध्याय २

भारत के प्राचीन सामाजिक दर्शन

का

संक्षिप्त सर्वेक्षण

अध्याय ३

'चाणक्यसूत्राणि' का परिवेश और परिप्रेक्ष्य

अध्याय : 2

भारत के प्राचीन सामाजिक दर्शन का संक्षिप्त सर्वेक्षण

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में भारत, मेसोपोटामिया, मिस्त्र, चीन, यूनान और रोम की सभ्यताएं परिगणित होती हैं । इनमें सबसे अधिक प्राचीन सभ्यता भारत की ही मानी जाती है ।

इतिहास के विद्वानों का मत है कि सिन्धुनदी की घाटी में विकसित सभ्यता सबसे पुरानी है । इतिहासकार मार्शल का कहना है कि मिस्त्र तथा बेबीलोनिया और सुमेरिया की सभ्यता से सिन्धुघाटी की सभ्यता पुरानी तथा श्रेष्ठ थी । सिन्धुघाटी सभ्यता का काल आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा से 3250[1] से 2750 वर्ष पूर्व आंका जाता है । इसे मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता भी कहते हैं । इस सभ्यता की उच्च कोटि की नगर-योजना, भवन-निर्माण - कला, आर्थिक प्रगति, ज्ञान - विज्ञान के विकास, सामाजिक संगठन, आदि के सम्बन्ध में जो प्रमाण प्राप्त हुए हैं, उससे स्पष्ट होता है कि ये लोग सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर चुके थे । कुछ पश्चिमी विद्वानों ने यह भ्रांत धारणा प्रचारित करने का प्रयास किया है कि यह सभ्यता प्राक् वैदिक है । लेकिन अनेक भारतीय विद्वानों ने अथक प्रयास से यह प्रतिपादित करने का स्तुत्य प्रयास किया है कि सिन्धु-घाटी के लोग वैदिक परम्परा के ही थे । इस सन्दर्भ में आचार्य उदय वीर शास्त्री का मत द्रष्टव्य है, "यह कथन भी अब निराधार सिद्ध हो गया है कि तथा कथित "सिन्धु सभ्यता" वैदिक सभ्यता से पूर्व की है । "मोहिंजो दाड़ो" की लिपि को किसी हद तक पढ़ने में सफलता प्राप्त कर ली गई है, तथा आगे पूर्ण रीति से पढ़ने व समझने का प्रयास चालू है।

---

1. आर० सी० मजुमदार, दिवैदिक एज, पृ० 172

इस दिशा में श्री टी० आर० रामचन्द्रन तथा डा० सुधांशु कुमार रॉय के प्रयत्न अभिनन्दनीय हैं । विद्वानों ने यह पता लगा लिया है कि वहाँ की अनेक प्रदर्शित वस्तुओं में ऋग्वैदिक मंत्रों के अंश उल्लिखित हैं । इसके अतिरिक्त वहाँ "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद," इन नामों का उल्लेख भी उपलब्ध हुआ है । ये प्रमाण इस तथ्य के निश्चायक हैं कि उक्त ध्वस्त नगर के निवासी वेदों से परिचित थे तथा वैदिक सभ्यता के ही अनुयायी थे। इस रीति पर भी वेदों का अस्तित्व अति प्राचीन काल में सिद्ध होता है ।"[1]

लेकिन यह हमारा दुर्भाग्य है कि इस महान और प्राचीनतम सभ्यता का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है । यदि इसे वैदिक सभ्यता की देन मान लिया जाए, तो इस समस्या का समाधान हो जाता है । यह निश्चित है कि वेदों की रचना जिस युग में हुई होगी, इसके बहुत पूर्व चिन्तन की एक विकसित प्रणाली अवश्य रही होगी, क्योंकि वेदों में जो भाषा, जो छन्द, जो विचार प्राप्त होते हैं, किसी एक व्यक्ति के कुछ दिनों के प्रयास का परिणाम नहीं हो सकते । वे एक समाज के दीर्घकालीन सह - चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं । चूंकि वेद सर्वाधिक प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन दर्शन को परिलक्षित करने वाले एक मात्र ग्रन्थ हैं, अतः हम अपने संक्षिप्त सर्वेक्षण को यहीं से प्रारम्भ करेंगे ।

xix वैदिक युग में समाज - दर्शन

वेद चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है । मैक्समूलर इसे ईसा पूर्व डेढ़ हजार वर्ष पुराना, तिलक

---

1. आर्योदय "वेदांक", पृ० 11

ई० पू० बीस हजार वर्ष पुराना मानते हैं । इन की निश्चित निर्माण-विधि कोई भी हो, किन्तु मैक्समूलर का यह कथन पूर्ण सत्य है कि ऋग्वेद विश्व - साहित्य का आदिम ग्रन्थ है । संसार में ज्ञान का अभ्युदय वेद ग्रन्थों के अभ्युदय के साथ हुआ ।[1]

मूलवेदों के मंत्रों को संहिता कहा जाता है । ऋग्वेद दस भागों में विभक्त है, जिन्हें मण्डल कहते हैं । प्रत्येक मण्डल में कुछ सूक्त होते हैं । कुल सूक्तों की संख्या 1017 है ।

ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं की स्तुतियों का संग्रह है । जिन देवताओं की स्तुतियां हैं, उनमें अग्नि, इन्द्र, वरुण प्रमुख हैं । इनके अतिरिक्त उषा, सविता आदि अन्य प्रमुख हैं । अन्य देवताओं को भी स्मरण किया गया है । स्तुतियों के अतिरिक्त अ न्य विषयों का विवेचन भी किया गया है ।

यजुर्वेद में धार्मिक कर्मकाण्ड की प्रधानता है । इसमें मुख्य रूप से यज्ञों की विधियों का वर्णन है । इसमें कुछ ऋग्वेद के भी मंत्र हैं । सामवेद में 1771 मंत्र ऋग्वेद के हैं और 104 नए हैं । अथर्ववेद में 20 काण्ड, 730 सूक्त तथा लगभग 6000 मंत्र हैं । इसमें मंत्रों का मुख्य विषय रोग, हिंसक, पशु, भूतप्रेत, आदि से बचने से सम्बन्धित है ।[2]

वेदों की व्याख्या के लिए छः प्रकार के ग्रन्थों की रचना की गई है -
1. शिक्षा, 2 कल्प, 3. निरुक्त, 4. व्याकरण, 5. छन्द, 6. ज्योतिष । इन विषयों पर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं ।

---

1. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 42

2. डा० शिवबालक द्विवेदी, वेदभारती, पृ० 3

वेदों का मुख्य विवेच्य विषय धर्म और अध्यात्म है ।[1] किन्तु प्रकारान्तर से इनमें तत्कालीन सामाजिक चिन्तन के परिपुष्ट प्रमाण भी मिल जाते हैं । हमें ज्ञात हो जाता है कि वैदिक युग में वर्ण- व्यवस्था, परिवार, विवाह, राज - धर्म, तथा अन्य सामाजिक आचार - विचारों के सम्बन्ध में लोगों का क्या अभिमत था । वे लोग समाज के विभिन्न पक्षों पर उस युग की परिस्थितियों के अनुसार गम्भीर चिन्तन कर चुके थे । यह निश्चित है कि वैदिक युग में मनुष्य का जीवन सरल था । सामाजिक जीवन की जटिलताएँ परिव्याप्त नहीं हुई थीं। लेकिन फिर भी उनके जीवन के विविध पक्ष संगठित और व्यवस्थित थे । इस सम्बन्ध में वेदों में अनेक रूप में विचार व्यक्त किए गए हैं, उनसे वैदिक समाज - दर्शन मूल्यों या प्रतिमानों अथवा आदर्शों के आधार पर उसे महान् कहा जाएगा । वैदिक वाङ्मय में अनेक ऐसे प्रमाण हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि उस युग के ऋषि और मनीषी सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में उच्च अवस्था में पहुंच चुके थे ।[2] इसके कुछ प्रमाण नीचे दिए जा रहे हैं :-

"संसार का ताना बाना तनता बुनता हुआ भी प्रकाश के पोते जा । बुद्धि से बनाए हुए परिष्कृत किए हुए ज्योतिर्मय, प्रकाशयुक्त मार्गों की रक्षा कर, निरन्तर ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करने वालों के उलझन रहित कर्म को विस्तृत कर।इन उपायों से मनुष्य बन । और देवों के हितकारी जन को, सन्तान को उत्पन्न कर ।"[3]

---

1. आर० सी० मजुमदार, दि वैदिक एज, पृ 363
2. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 408
3. ऋग्वेद, 10/53/6

688

"ईर्ष्या के पहले वेग को और पहले के दूसरे अर्थात् ईर्ष्या के फलस्वरूप हृदय में होने वाले तेरे शोकरूप उस अग्नि को करने वाले का मन मुरदा होता है ।"[1]

"कच्ची बुद्धि से पाप करके जो मनुष्य उसके द्वारा दूसरों की हिंसा करना चाहता है, उसकी बुद्धि जलने लग जाती है और उसमें अनेक पत्थर पड़कर फट-फट करने लगते हैं ।"[2]

"मनुष्य दुष्ट उपायों से धन नहीं प्राप्त कर सकता ।"[3]

"तिनकों के समान कुछ साथियों के साथ एक होकर हम वेगपूर्वक कार्य करते हैं ।"[4]

"सत्य की नौकाएं सत्कर्मों को पार करती हैं ।"[5]

"जीवों के प्रति प्रमाद मत कर ।"[6]

"अकेला खाने वाला पापी बनता है ।"[7]

"हे स्त्री ! तू श्वसुर, नन्दि, देवर आदिकों के साथ ससुराल जाकर साम्रज्ञी जैसी रह ।"[8]

"जैसा मन में हो वैसा ही बाहर का व्यवहार हो और जैसा बाहर का व्यवहार हो वैसा ही मन में हो ।"[9] लालच मत कर ।[10]

---

1. अथर्ववेद, 6/18/1
2. अथर्ववेद, 4/18/3
3. ऋग्वेद, 7/32/21
4. ऋग्वेद, 10/134/7
5. ऋग्वेद, 9/73/1
6. अथर्ववेद, 8/1/7
7. ऋग्वेद 10/117/3
8. ऋग्वेद 10/85/46
9. अथर्ववेद, 2/30/4
10. यजुर्वेद, 40/1

"बड़े बनो । विवेकशील बनो, कभी अलग मत हो । एक साथ मिलकर अपने लक्ष्य को सम्यक् प्रकार से साधित करते हुए, केन्द्र शक्ति के साथ चलते हुए, परस्पर प्रिय वाणी में बात करते हुए निकट आओ । तुम सबको एक ही लक्ष्य की ओर, एक होकर साथ - साथ गति करने वाले एक विचारों वाला बनाता है।"[1]

वर्ण- व्यवस्था भारत को सामाजिक चिन्तन की अद्यतिम देन है। इसका विवेचन हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है ।
ऋग्वेद के "पुरुष सूक्त" के मंत्र में आता है कि "सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, कटि से वैश्य और चरणों से शूद्र का आविर्भाव हुआ ।"[2] कुछ पाश्चात्य विचारकों का मत है कि "पुरुष सूक्त" क्षेपक है, ऋग्वेद में वर्ण - व्यवस्था का किसी प्रकार उल्लेख नहीं है। किन्तु प्रसिद्ध विद्वान श्री कीथ ने कहा है, "विद्वानों ।म्यूर, विल्सन और वेबर आदि। के अनुसार ऋग्वेद में किसी प्रकार का भी जाति - भेद नहीं था। किन्तु आधुनिक काल में क्रमशः बड़े जोरों से "।जेल्नर, न्यूबर्ग के मतानुसार। यह कहा जा रहा है कि वह जाति - भेद था । एक दृष्टि से देखने पर सत्य ही ऋग्वेद में जाति - भेद का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता । ऋग्वेद में एक शासक क्षत्रियजाति की कथा है, यह निःसन्देह है, एवं वैदिक काल में राजपद वंशगत था । इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं विश्इन तीनों में समाज विभक्त था, [illegible] इसका उल्लेख मिलता है।[3]
आश्चर्य है कि हजारों वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों द्वारा आविष्कृत सिद्धान्त को पश्चिम के आधुनिक विचारक बड़ा महत्वपूर्ण मान रहे हैं । पाश्चात्य विचारक प्रो० डॉ० आउलपेन्स्की का विचार है कि वर्ण- व्यवस्था अति प्रशंसनीय थी है ।

---

1. ऋग्वेद
2. ऋग्वेद, 10/90/12
3. डा० कीथ, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 92-93

"वैदिक युग में संयुक्त परिवार - प्रणाली प्रचलित थी । पति, पत्नी तथा बच्चे के अन्य लोग साथ रहते थे। इसके सम्बन्ध में वेदों में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं । इस युग में पिता को बहुत अधिकार प्राप्त होते थे । वही परिवार का प्रधान होता था । परिवार की सम्पत्ति पर उसका एकाधिकार होता था ।" [1]

वैदिक युग में विवाह - संस्था पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी । बाल विवाह का प्रचलन नहीं था, ऐसे प्रमाण मिलते हैं ।" माता - पिता की इच्छा से विवाह निश्चित होता था ।"[2] बहु पत्नी प्रथा प्रचलित थी । डा० ए० एस० अल्तेकर का मत है, "प्राचीनकाल में, विशेषकर वैदिक तथा ब्राह्मण काल में राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में कोई क्रमवार विवरण नहीं मिलता है । फिर भी बिखरी हुई कुछ ऐसी सामग्री मिलती है जो तत्कालीन राजनीति शास्त्र के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान पर कहीं तीव्र तथा कहीं धूमिल प्रकाश डालती है ।"[3]

वैदिक युग में राजनैतिक - दर्शन के सम्बन्ध में अनेक स्पष्ट विचार व्यक्त किए गए हैं, जिनको देखने से ये ज्ञात होता है कि आज हम राजनीति - दर्शन में जिन विचारों को नया और महत्वपूर्ण मानते हैं, उनमें से अनेक विचारों के तत्व वैदिक युग में वर्तमान थे । उदाहरण के लिए, राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक संविदा के और दैवी सिद्धान्त को हम पश्चिम के हॉब्स, लॉक और रूसो की देन मानते हैं, लेकिन वेदों में हमें इन सिद्धान्तों के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं । एक स्थान पर जनता के समक्ष पुरोहित प्रस्तावित राजा को सम्बोधित करते हुए कहता है -"हे प्रस्तावित राजन ! मैं कृषि - विकास के निमित्त और धन - ऐश्वर्य के निमित्त, सार्वजनिक कल्याण के निमित्त और सार्वजनिक पोषण के निमित्त राजपद पर तेरा अभिषेक करता हूँ ।"[4]

---

1. श्री अम्बूरत्न त्रिपाठी, भारतीय संस्कृति और समाज, पृ० 248
2. ऋग्वेद, 3/31/1
3. डा० ए० एस० अल्तेकर, गवर्नमेन्ट इन एन्शियेंट इंडिया, पृ० 5
4. यजुर्वेद, 32/6

"हे प्रस्तावित राजन ! विद्या - प्रसार के लिए, परम ऐश्वर्य तथा महान बल की प्राप्ति के लिए, सम्यक् रक्षण कार्य के लिए तू उत्तम नियमों के अनुसार ग्रहण किया गया है ।"[1]

राज्य के सम्बन्ध में पश्चिमी दार्शनिक सावयवी सिद्धान्त की बहुत अधिक चर्चा करते हैं । वैदिक साहित्य में वैदिक युग के ऋषियों ने इसका बहुत सुन्दर विचार प्रतिपादित किया । इसमें सम्पूर्ण जगत को विराट पुरुष माना गया है और सृष्टि के विविध रूपों को उनके अंगों के रूप में स्वीकार किया गया है ।" विराट पुरुष में असंख्य सिर, असंख्य नेत्र असंख्य बाहु, असंख्य पैरों की कल्पना की गई है । उसी विराट पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, कान से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि की उत्पत्ति बताई गई है ।[2]

डा० श्याम लाल पाण्डेय का मत है - "समाज की उत्पत्ति में भी इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है । ऋग्वैदीय युग के समाज का निर्माण एवं विकास आंगिकवाद सिद्धान्त के आधार पर माना गया है ।" विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य, जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है ।"[3]

वैदिक युग में राजा की नियुक्ति, राजा के कर्तव्य, संविधान, कर्मचारी, कोष, संस्थाओं, राज्य - रक्षा के उपायों आदि के सम्बन्ध में सुलझे हुए विचार प्राप्त होते हैं । वैदिक युग में सभा, समिति और विदथ जैसी राजनैतिक संस्थाओं का विकास हो चुका था । केवल राजतन्त्र ही नहीं था, गणतंत्र का भी अस्तित्व था ।

---

1. यजुर्वेद, 33/20
2. ऋग्वेद, 13/90/10
3. डा० श्यामलाल पाण्डेय, वैदिक कालीन राज्य व्यवस्था, पृ० 48

वैदिक युग के सामाजिक दर्शन का मुख्य आधार धर्म रहा है । वैदिक धर्म आज के धर्म से पर्याप्त भिन्न था । उस युग के लोग मूलतः प्रकृति के उपासक थे। यज्ञ वैदिक धर्म की प्रमुख संस्था थी ।[1] आधुनिक युग में परिस्थितिकी (इकोलाजी) तथा प्रकृति - संरक्षण (कंजर्वेशन ऑफ नेचुरल - रिसोर्सेज) को बड़ा महत्व दिया जा रहा है । ऐसा माना जाने लगा है, यदि प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा और शुद्धता की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा, तो सम्पूर्ण मानव सभ्यता को बहुत बड़ा खतरा उत्पन्न हो जाएगा। हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि प्रकृति की महत्ता से पूर्ण परिचित थे। इसीलिए उन्होंने अपने सामाजिक जीवन में प्रकृति की उपासना को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया । पृथ्वी, जल, वायु, सूर्य, अग्नि, वनस्पतियों, आदि प्राकृतिक उपादानों के प्रति असीम श्रद्धा व्यक्त की है ।"[2] इस सन्दर्भ में प्राचीन ऋषिओं के कुछ विचार द्रष्टव्य हैं । "हे पृथ्वी ! तुम संतप्त व दरिद्रों को आश्रय देने वाली हो । हे पृथ्वी ! तुम मेरे लिए अनन्त रत्नों की खान हो । तुमधन के लिए निर्धन व्यक्ति को प्राप्त होने वाली हो । तुम्हारी कृपा से ही वह कृषि आदि कर्म करता है। हे पृथ्वी ! मुझे इच्छित ऐश्वर्य देकर रक्षित करो । हम याचना द्वारा निर्वाह न करें । हे पृथ्वी ! मन की व्यथा से मेरी रक्षा करो । हम मनोवेदना से दुःखी न हों । हे मृत्तिके हम तुम्हें खोदते हैं ।"[3] हे कटे हुए वृक्ष ! अत्यन्त तीक्ष्ण यह कुठार महान् दर्शन और श्रेष्ठ यज्ञ के निमित्त तुम्हें सूप के रूप में प्राप्त करता है । हे वनस्पते ! तुम इस स्थान से शत अंकुर युक्त होकर उत्पन्न होओ । हम भी इस कर्म के बल से पुत्र रूप सहस्रों शाखा वाले हों ।"[4]

---

1. डब्लू ० टी० बैरी, सोर्सेज ऑफ इन्डियन ट्रेडीशन, पृ० 5
2. बेंजामिन वाकर, हिन्दू वर्ल्ड, पृ० 559
3. यजुर्वेद, अ० 5/9
4. यजुर्वेद, अ० 0/5/44

वैदिक धर्म में यज्ञों का अत्यन्त विस्तृत और सूक्ष्म विधान किया गया है । इन यज्ञों का समाज के कल्याण और निर्माण से घनिष्ठ सम्बन्ध था । यज्ञों में राजा से रंक तक समस्त वर्गों के व्यक्तियों को सामाजिक निर्माण की प्रक्रिया में भूमिका प्राप्त हो जाती थी । समस्त प्रकार के व्यवसायों, कलाओं, शिल्पों के विकास का अवसर मिलता था। अ वस्तुतः यज्ञ जितना महत्वपूर्ण धार्मिक कर्म था, उससे भी अधिक यह समाज को एक सूत्र में आबद्ध करने का साधन था।अ संसार में दर्शन और प्रविधि की दृष्टि से यज्ञ जैसी संस्था का उदय कहीं नहीं हुआ । भारत में आज भी यज्ञ का महत्व लुप्त नहीं हुआ है । यह इस संस्था की जीवंतता का प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

2. उपनिषदों में समाज - दर्शन ।

भारतीय ही नहीं, विश्व - वाङ्मय में उपनिषदों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । उपनिषदों की संख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। निर्णय सागर प्रेस से 108 उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकाशन संस्थाओं ने अलग - अलग संख्या में उपनिषद् प्रकाशित कि किए हैं । डा० शिव बालक द्विवेदी ने विभिन्न उपनिषदों का वेदों से सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि दस उपनिषद् - ऋग्वेदीय, उन्नीस उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय, बत्तीस उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय, सोलह उपनिषद् सामवेदीय, इकत्तीस उपनिषद् अथर्ववेदीय हैं ।[1]

समस्त 108 उपनिषद महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते हैं । जो वास्तव में महत्वपूर्ण हैं, उन पर अति प्राचीनकाल से आचार्यगण भाष्य लिखते आ रहे हैं, और आज भी, उन पर भाष्य लिखे जा रहे हैं । विदेशों में उपनिषदों के विभिन्न भाषाओं में अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए हैं । इससे वैचारिक

---

1. डा० शिवबालक द्विवेदी, छान्दोग्योपनिषद्, पृ० 23

दृष्टि से उपनिषदों की महत्ता प्रमाणित होती है । मुख्य उपनिषद इस प्रकार हैं ।

1. ईशोपनिषद	2. केनोपनिषद
3. कठोपनिषद	4. प्रश्नोपनिषद
5. मुंडकोपनिषद,	6. मांडूक्योपनिषद
7. तैत्तरीयोपनिषद	8. ऐतरेयोपनिषद
9. छांदोग्योपनिषद	10. बृहदारण्यकोपनिषद,
11. श्वेताश्वतरोपनिषद	11. कौषितकिब्राम्हणोपनिषद
13. मैत्रायण्युपनिषद	14. नारायणोपनिषद
15. जाबालोपनिषद	16. आरूणिकोपनिषद
17. कैवल्योपनिषद	18. ब्रम्हबिंदूपनिषद । [1]

माण्डूक्योपनिषद ने कुल तेरह को प्रधान माना है । इनका क्रम इस प्रकार है - ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकी और मैत्री । इन समस्त उपनिषदों के कालक्रम को निर्धारण करना पर्याप्त जटिल समस्या है । लेकिन विद्वान इस तथ्य से सहमत हैं कि प्रमुख उपनिषदों का रचनाकाल ईसा पूर्व बारहवीं शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के बीच में है । इनमें सबसे प्राचीन बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद माने गए हैं । उक्त 113 में माण्डूक्योपनिषद को सबसे अन्तिम माना गया है ।

उपनिषदों का मुख्य विषय तत्व - दर्शन है । लेकिन इनके अध्ययन से उस युग के सामाजिक चिन्तन का भी परिचय प्राप्त होता है । इनका दर्शन वैदिक ऋषियों से पर्याप्त भिन्न हो गया था । डा० आर० डी० रानाडे का मत है, "उपनिषदीय दार्शनिकों ने प्रकृति की शक्तियों को देवताओं के स्वरूप में समझना छोड़ दिया था, जिनके सामने उन्हें एक अज्ञात भीति भावना से

---

1. विनोबा भावे, ऊटाटगी, पृ० 7 - 14

सिर झुकाना पड़ता था । भारतीय दर्शन के इतिहास में हम ऋग्वेद से उपनिषदों में यही विकास पाते हैं, जो हेलेनिक दर्शन के इतिहास में होमर और हीसिएड से थेलीज और अनेक्जीमेण्डर में मिलता है । प्रकृति की शक्तियों की मूर्त्त - भावना कुण्ठित हो जाती है और निश्चित चिन्तन का युग आ जाता है । जो केवल कल्पनाशील विचारकों का ही काम है । "वह क्या है," उपनिषदीय दार्शनिक प्रश्न करता है, "जिसे जान लेने से शेष सब कुछ स्वतः ज्ञात हो जाता है," संक्षेप में वे ज्ञान के मूल - तत्व को समझना चाहते हैं ।"[1]

उपनिषदों के चिन्तन ने भारतीय धर्म, अध्यात्म, साहित्य और समाज के प्रत्येक पक्ष को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया । इतना ही नहीं, विश्व के अनेक मनीषियों ने इस महान् चिन्तन की उत्कृष्टता को स्वीकार किया । जर्मन दार्शनिक शोपेनहर को कहना पड़ा, "उपनिषदों की एक - एक पंक्ति सुदृढ़, सुनिर्दिष्ट, सुसामञ्जस्यपूर्ण अर्थ प्रकट कर रही है । प्रत्येक वाक्य से कितना गम्भीर, मौलिक और गम्भीरतापूर्ण विचार - समूह प्रकट हो रहा है, सम्पूर्ण ग्रन्थ कैसे उच्च, पवित्र और एकान्तिक भावों से ओत प्रोत है । सारे पृथ्वी - मण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है । वही मुझे जीवन में शान्ति प्रदान करेगा"। इतिहास-दर्शन और संस्कृति - दर्शन के आचार्यों का मत है कि विश्व की वही सभ्यता उन्नति के शिखर पर पहुँच सकी है, जिसके प्रेरक मूल्य उच्च और उदात्त रहे हैं । पश्चिमी विद्वान पिटरिम सोरोकिन ने जीवन पर्यन्त विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन करने के पश्चात् कहा था कि भौतिकतावादी संस्कृतियों का विनाश अल्प समय में होता है और आध्यात्मिक मूल्यों से अनुप्राणित संस्कृतियाँ दीर्घ-जीवी होती हैं तथा मानवता के विकास में अधिक योगदान कर पाती हैं । सम्भवतः उपनिषदों का महान चिन्तन भारतीय सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति के सातत्य का एक प्रमुख कारण रहा है ।

---

1. आ० डी० रानाडे, उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० 49

उपनिषद मूलतः आत्म - विद्या या ब्रह्म - विद्या के ग्रन्थ हैं, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से उनमें समाज - दर्शन का भी विवेचन हुआ है । उपनिषद युग में वर्ण - व्यवस्था निश्चित रूप से विद्यमान थी । बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्ण - व्यवस्था के जन्म का स्पष्ट उल्लेख है ।

विश्व की आदि सत्ता ब्रह्म है । किन्तु उसे अपने एकत्व से संतोष न हुआ । एकाकी होने के कारण उसे कुछ अभाव सा प्रतीत होता था । अतः उसने एक श्रेयत क्षत्रिय वर्ग की सृष्टि की । इस प्रकार आदि ब्रह्म से इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईश आदि देवताओं की सृष्टि हुई । ये स्वर्ग लोक के क्षत्रिय वर्ग हैं । पुनः क्षत्रिय वर्ग की सृष्टि के बाद भी ब्रह्म को संतोष न हुआ तो उसने स्वर्ग में वैश्य वर्ग की सृष्टि की, जिसमें वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत, विश्वदेव आदि गण देवता हैं । फिर भी उसे एक अभाव का अनुभव हुआ तो उसने स्वर्ग में शूद्र वर्ण की सृष्टि की, जिसका प्रतिनिधि पूषण है । पुनः अपने को पूर्णता प्रदान करने के लिए ब्रह्म ने धर्म की स्थापना की, जो इन पृथक - पृथक वर्गों को एक सूत्र में बाँधता है । अन्त में ब्रह्म अग्नि का स्वरूप धारण कर लेता है, जो देवताओं का ब्राह्मण है । इसके बाद हमें बताया गया है कि स्वर्ग के वर्ण - विधान के आदर्श पर ही पृथ्वी पर वर्ण - विधान हुआ । उपनिषद् युग में केवल ब्राह्मणों का अध्यात्म विद्या पर एकाधिकार नहीं था । कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है क्षत्रिय तथा अन्य वर्गों के लोगों का आध्यात्मिक ज्ञान में अधिकार था । राजा जनक का प्रसंग इस संदर्भ में विशेष द्रष्टव्य है ।

डा० राधा कुमुद का कथन है, "उस समय में देश के बौद्धिक जीवन में क्षत्रियों का बहुत बड़ा हाथ था, जो कि उत्साह के साथ इन कामों में योग देते थे । उनके उत्साह से उनकी श्रेष्ठ लोकतांत्रिक भावना तथा आत्मा के जगत में सार्वजनिक भ्रातृत्व के प्रति उनकी लगन का प्रमाण मिलता है । क्योंकि सभी लोग इस जगत के स्वतंत्र नागरिक हो सकते हैं ।

कई नरेशगण स्वयं विचारों के क्षेत्र के नेता थे और उनके पास विद्यार्थी उन सत्यों का उपदेश पाने पहुंचते थे, जिनके कि वे भण्डार थे, जैसे कि - विदेह के जनक, काशी के अजात शत्रु, पंचाल देश के प्रवहण जयवलि अथवा अश्वपति कैकेय।"[1] यह कथन उस उपनिषद् युग की राजनैतिक चिन्तन की उच्च अवस्था को भी व्यक्त करता है"।

इस युग में आश्रम - व्यवस्था पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आश्रम - व्यवस्था भी वर्ण-व्यवस्था की तरह भारतीय संस्कृति को अद्वितीय देन है। आश्रम, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये एक वैज्ञानिक पद्धति निर्धारित करते हैं। आश्रम चार थे - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास। छान्दोग्योपनिषद में चारों आश्रमों के कर्तव्यों का स्पष्ट निर्देश मिलता है। इस प्रकार आश्रम मनुष्य की नैसर्गिक वृत्तियों को सुचित रूप में परिपुष्ट करने और अन्ततोगत्वा उसे मोक्ष प्रदान करने की विभिन्न अवस्थाएं हैं, जो व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति और आत्म-विस्तार के पूर्ण अवसर प्रदान करती हैं। आश्रम - व्यवस्था के आधार पुरुषार्थ और ऋण, अधिकार और कर्तव्य, स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, जिससे समाज को विरोध और संघर्ष की संभावनाओं का उन्मूलन होता है। तथा समाज एवं व्यक्ति की प्रगति का पथ प्रशस्त होता है।

उपनिषद् युग में परिवार और विवाह की संस्थाएं विकसित हो चुकी थीं। स्त्रियों की अवस्था बहुत अच्छी थी, उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी, और ज्ञान और ध्यान प्राप्त करने के लिए अवसर थे। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के एक संवाद में हमें यह बताया गया है कि याज्ञवल्क्य अपनी दोनों पत्नियों-कात्यायनी और मैत्रेयी - के बीच अपनी सम्पत्ति का विभाजन करना चाहते थे। मैत्रेयी ने अपने पति की आध्यात्मिक सम्पत्ति का भाग चुना और यह कहा कि यदि मैं समस्त वैभवपूर्ण वसुन्धरा का भी अधिकार

---

1. डा० राधाकुमुद मुखर्जी, प्राचीन भारतीय विचार और विभूतियाँ, पृ035

प्राप्त कर लूँ, तो भी मुझे अमरत्व कभी न मिल सकेगा। याज्ञवल्क्य ने कहा कि निस्सन्देह वह जीवन उन लोगों के जीवन के समान होगा, जिन्हें सभी सुविधाएँ हैं, किन्तु केवल सम्पत्ति के अधिकार से अमरत्व की आशा नहीं। मैत्रेयी ने कहा कि मैं उसका क्या करूँगी जिससे मुझे अमरत्व न मिल सकेगा।

उपनिषदों के सामाजिक दर्शन का मुख्य तत्त्व केवल ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र का सूक्ष्म रूप से अवलोकन करने से ही ज्ञात हो सकता है। विश्व विख्यात महान योगी स्वामी राम ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है।

1। ईश्वर सर्वव्यापी है - "जगत्यां जगत् सर्वम् जगत ईशावास्यम्।"

2। जगत् की सभी वस्तुओं को विवेक पूर्वक उपभोग करते हुए यह भाव रखना चाहिए कि संसार की सभी वस्तुएं ईश्वर की हैं और हमारा इन पर केवल प्रयोगाधिकार है -"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।"

3। किसी के धन और सम्पत्ति का आहरण न करना चाहिए - "मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।"

4। जीवन पर्यन्त कर्तव्य करते हुए ही जीने की इच्छा हो। इस प्रकार असंग और अलिप्त रह कर निष्काम भाव से कार्य करता हुआ मानव कर्मों में लिप्त नहीं होता -
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।"

5। सम्पूर्ण मानव जीवन के कर्तव्यों का विधान और साधन निष्काम भाव से कर्म करने में है। इस संसार में मनुष्य को कर्तव्य का बोध अत्यन्त आवश्यक है। यह ज्ञान प्राप्त करने का पहला और प्रमुख साधन है। इसके अभाव में मानव आगे नहीं बढ़ सकता। यह आध्यात्मिक उपलब्धि की पहली सीढ़ी है।

16। ऐसा आचरण न करना चाहिए जिससे अन्तःकरण मलिन हो ।

17। ऐसा करने पर मनुष्य को इस लोक और परलोक में दुःख सहना पड़ता है ।

18। जीवन और जगत में निवास करने के सम्पूर्ण ज्ञान की विधियों को प्राप्त करने का मार्ग पहले भाग में वर्णित है । [1]

पश्चिमी विद्वान ब्लूम फील्ड ने ठीक कहा है कि हिन्दुओं के चिंतन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जो उपनिषदों से प्रभावित न हो । उपनिषदों के आचार्य स्वामी रंगनाथानन्द का कथन पूर्ण रूपेण सार्थक है, "उपनिषद शक्ति और सृजनात्मकता के शाश्वत स्रोत हैं । भारतीय जीवन और संस्कृति के समस्त समुज्ज्वल पक्ष उपनिषदों के ऋणी हैं"। [2]

कठोपनिषद का यह निर्देश सम्पूर्ण मानवता को सदा प्रेरणा देता रहेगा, उठो जागो और श्रेष्ठ आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करो ।[3]

---

1. स्वामी राम, ईशोपनिषद, एक वैज्ञानिक विवेचन, पृ0 30
2. आचार्य रंगनाथानन्द, दि मैसेज ऑफ उपनिषद, पृ0 18
3. कठोपनिषद, श्लोक - 61

13। धर्म-सूत्रों और गृह्य - सूत्रों में समाज - दर्शन

समाज - दर्शन की दृष्टि से धर्म - सूत्रों और गृह्य - सूत्रों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म - सूत्रों में प्रमुख इस प्रकार हैं :-

1।	आपस्तम्बीय धर्म - सूत्र	2।	गौतम धर्म - सूत्र
3।	बौधायन धर्म - सूत्र	4।	मानव धर्म - सूत्र
5।	वासिष्ठ धर्म - सूत्र	6।	विष्णु धर्म - सूत्र
7।	वैखानस -स्मार्त धर्म - सूत्र	8।	शंख-लिखित धर्म - सूत्र
9।	हारीत धर्म - सूत्र	10।	हिरण्यकेशि धर्म - सूत्र

गृह्य - सूत्रों में प्रमुख निम्नांकित हैं :-

1।	आपस्तम्ब गृह्य - सूत्र	2।	आश्वलायन गृह्य - सूत्र
3।	कौशिक गृह्य - सूत्र	4।	खादिर गृह्य - सूत्र
5।	गोभिल गृह्य - सूत्र	6।	जैमिनि गृह्य - सूत्र
7।	पारस्कर गृह्य - सूत्र	8।	बौधायन गृह्य - सूत्र
9।	मानव गृह्य - सूत्र	10।	शांखायन गृह्य - सूत्र
11।	हिरण्यकेशि गृह्य - सूत्र। [1]		

डा० पी० वी० काणे ने धर्म - सूत्रों और गृह्य - सूत्रों की विषयवस्तु का अन्तर करते हुए लिखा है, "अधिकतर गृह्य - सूत्रों के विषय हैं -पूत गृहाग्नि, गृह - यज्ञ विभाजन, प्रातः-सायं की पूजा, नव एवं पूरे चन्द्र की पूजा, पके भोजन का हवन, वार्षिक यज्ञ, विवाह, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन एवं अन्य संस्कार, छात्रों स्नातकों एवं छुट्टियों के नियम, श्राद्ध - कर्म, मधुपर्क। गृह्य - सूत्रों का सम्बन्ध अधिकांश घरेलू जीवन की चर्याओं से है। वे मनुष्य

---

1. डा० हरिदत्त शास्त्री, भारतीय साहित्य और संस्कृति, पृ० 153

के अधिकारों, आचारों, कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों की तरफ बहुत कम ध्यान देते हैं। इसी प्रकार धर्म - सूत्रों में भी उपर्युक्त कुछ विषय - वस्तुओं या प्रकरणों के सम्बन्ध में नियम पाए जाते हैं। जैसे विवाह संस्कारों, विद्यार्थियों, स्नातकों, दुष्टियों, श्राद्ध, एवं मधुपर्क के विषय में। धर्म - सूत्रों में गृह्य सूत्रों जीवन के क्रिया - संस्कारों के विषय में यदा कभी-कभी ही पाई जाती है और वह भी बहुत कम, क्योंकि उनकी विषयपरिधि बहुत विस्तृत होती है। धर्म-सूत्रों का मुख्य ध्येय है, आचार, विधि - नियम (कानून) एवं मुख्य क्रिया संस्कारों को विधिवत् चर्चा करना। आपस्तम्ब गृह्य एवं धर्म के बहुत सूत्र एक ही हैं। कभी - कभी गृह्य - सूत्र धर्म - सूत्र की ओर निर्देश भी कर बैठते हैं"।[1]

सूत्र - साहित्य के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इस युग में वैदिक और उपनिषद् युग की ओझा वर्ण या जाति व्यवस्था कुछ अधिक कठोर होने लगी थी। शूद्रों और वैश्यों के अधिकार बहुत कम हुए। पुरोहित - कर्म पर ब्राह्मणों का एकाधिकार हो गया। गृह्य- सूत्रों में विभिन्न वर्णों के लौकिक और आध्यात्मिक कार्यों का स्पष्ट विभाजन कर दिया गया। वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण के अधिक निकट रहे, लेकिन वैश्य दूर हो गए। छुआ - छूत अधिक बढ़ने लगा। शूद्रों को गाँव या नगर से बाहर बसाया जाने लगा।

गृह्य - सूत्रों के युग में परिवार - व्यवस्था को पूर्ण रूप से संगठित और व्यवस्थित करने के लिए जितने प्रयास किए गए, उतने शायद विश्व के किसी समाज में नहीं किए।

---

1. डा० पी० वी० काणे, धर्म शास्त्र का इतिहास, पृ० 10

डा० राजबली पाण्डे ने कहा है, "गृह्य सूत्रों में सभी प्रकार के प्रचलनों, संस्कारों, क्रियाकांड, प्रथाओं और यज्ञों के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश मिलते हैं, जिनका अनुष्ठान और पालन करना प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। इनमें गर्भाधान से मृत्यु और उसके पश्चात् श्मशान पर्यन्त किए जाने वाले संस्कार भी आते हैं। गृह्य-सूत्र विवाह से आरम्भ कर गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्न-प्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन और समावर्तन संस्कारों का वर्णन करते हैं। इसके पश्चात् वे विवाहित दम्पत्ति द्वारा किए जाने वाले यज्ञों और विधि-विधानों का निरूपण तथा अन्त में अन्त्येष्टि या श्मशान का वर्णन करते हैं। उनमें संस्कारों से सम्बद्ध प्रत्येक विषय का विस्तृत निरूपण किया गया है। संस्कारों में विभिन्न अवसरों पर उच्चारित किए जाने वाले मंत्रों और वचनों का उल्लेख है"।[1]

सूत्र - युग में सामान्यतः संयुक्त परिवार थे। घर का वरिष्ठ पुरुष परिवार का प्रधान होता था। सूत्र ग्रन्थों में परिवार के प्रधान के अधिकारों और कर्तव्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है। विवाह प्रथा का पूर्ण परिष्कार हो चुका था। आश्वलायन गृह्य - सूत्र में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। विवाह के बड़े निश्चित नियम निर्धारित कर दिए गए थे, अर्थात् वर-वधू की क्या योग्यता होनी चाहिए, किस वर्ग में विवाह होने चाहिए और किन गोत्रों में विवाह होने चाहिए आदि। विवाह संस्कार की विस्तृत प्रणाली भी विकसित हो चुकी थी। विवाह की अवस्था के संबंध में गृह्य- सूत्रों में मतभेद है। बाल विवाह और वयस्क विवाह, दोनों के प्रमाण मिलते हैं। अनुलोम विवाह प्रणाली प्रचलित थी। कन्या का जन्म अच्छा नहीं समझा जाता था।

---

1. डा० राजबली पाण्डे, हिन्दू संस्कार, पृ० 7-8

इससे यह प्रतीत होता है कि इस युग में स्त्रियों की स्थिति में कुछ ह्रास होने लगा था । सती प्रथा का प्रचलन नहीं हुआ था, क्योंकि गृह्य - सूत्रों में विधवा के अधिकारों का विवेचन मिलता है । वशिष्ठ धर्म - सूत्र विशेष स्थितियों में विधवा - विवाह का समर्थन करता है । कुछ धर्म - सूत्र इस प्रथा का समर्थन करते हैं लेकिन कुछ इसकी निन्दा करते हैं । वशिष्ठ विवाह - विच्छेद के समर्थक नहीं हैं । उनका कहना है कि यदि पत्नी झगड़ालु है, पापी है, घर छोड़ दिया है या डकैतों के हाथ पड़ गई है, तो भी उसका परित्याग नहीं करना चाहिए । इन सबके लिए प्रायश्चित का विधान किया है । आपस्तम्ब ने ऐसे पुरुष के लिए दण्ड का विधान किया है, जो अनुचित रूप से अपनी पत्नी का परित्याग करता है । यदि कोई पुरुष ऐसा काम करता है, जिससे उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है, तो उसकी पत्नी को बहिष्कृत नहीं किया जायेगा । बौधायन कहते हैं कि यदि किसी कुमारी का बल पूर्वक अपहरण कर लिया जाता है और शास्त्रों की विधि से उसका विवाह नहीं हुआ है तो उसका विवाह दूसरे पुरुष से किया जा सकता है । लगभग सभी धर्म - सूत्र इस बात से सहमत हैं कि यदि कोई वयस्क कुमारी का विवाह उचित समय पर न हो, तो उसे अपना पति चुनने का अधिकार है ।[1] इससे गृह्य-सूत्रों की उदार विचार धारा का परिचय प्राप्त होता है ।

सूत्र - युग में आश्रमों का महत्व भी बढ़ा था । सूत्र - ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन है ।[2] विशेष रूप से ब्रह्मचर्य आश्रम के सम्बन्ध में नियमों का बड़ा विस्तृत वर्णन है । इस आश्रम में गुरु मुख्य केन्द्र होता था । गृहस्थों के लिए भी बड़े विस्तृत नियम निर्धारित किए गए थे । संस्कारों का सूक्ष्म विधान किया गया था ।

---

1. डा० नीलाक्षी सेनगुप्ता, इवलूशन आफ हिन्दू मैरिज, पृ० 100
2. डा० आर० सी० मजूमदार, दि वैदिक एज,

सामाजिक जीवन में नैतिकता और शिष्टाचार को विशेष महत्व दिया जाता था। अतिथि - सत्कार धार्मिक आचरण का एक अंग - सा हो गया था। सत्य निष्ठा, सेवा, दया, परोपकार आदि मूल्यों को समाज में सर्वोपरि स्थान दिया गया था।

सूत्र - काल में बड़े राज्यों के कोई उदाहरण नहीं मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में छोटे - छोटे ही राज्य थे। राज - दर्शन की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण वैचारिक उपलब्धि नहीं हुई, लेकिन यदि कानून को राज - दर्शन का ही अंग मान लिया जाए, तो ये कहा जा सकता है कि यह युग कानूनों के उद्भव के लिए प्रारम्भिक पृष्ठभूमि के रूप में आया। डा० यू० सी० सरकार ने गम्भीर अध्ययन के पश्चात यह मत स्थिर किया है कि भारतवर्ष में कानूनों के निर्माण की दिशा में यह प्रारम्भिक युग था।[1] विभिन्न गृह्य -सूत्रकारों के ही विवेचन का विहंगावलोकन करने मात्र से यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक हिन्दू कानून वेत्ताओं ने बेबीलोनिया, मिश्र, रोम, और ग्रीस के प्रारम्भिक विधि वेत्ताओं की तुलना में अधिक व्यवस्थित और क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया था। धर्म-सूत्रकारों में प्रमुख रूप से गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वशिष्ठ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने विवाह, परिवार, स्त्रीधन, अपराधों, राजा के कर्तव्यों आदि के सम्बन्ध में नियमों का निर्माण किया। आगे के आचार्यों का इन्हीं के विचारों से मार्ग - दर्शन हुआ।

राज - दर्शन के सम्बन्ध में गृह्य - सूत्रों में जो कुछ प्राप्त होता है, उससे प्रतीत होता है कि इस युग तक राजदर्शन धर्म-दर्शन से पृथक नहीं हो पाया था। राजा धर्मानुशासन के अधीन ही था। उस युग में राजा के सम्बन्ध में जो योग्यतायें निर्धारित की गई, वे इस प्रकार हैं - सूत्रों में

---

1. डा० यू० सी० सरकार, इण्डियन हिन्दू सोशल हिस्ट्री,

में राजाओं के विविध कर्तव्यों तथा अधिकार - क्षेत्र का विवरण दिया गया है । राजा की योग्यता का आधार श्रेष्ठ बुद्धि, विवेक, सैनिक - चातुर्य, नैतिक बल, इन्द्रिय - निग्रह तथा पवित्र आचार आदि थे । गौतम-सूत्र में कहा गया है कि राजा को देश जाति और कुटुम्ब के नियमों ।जो धर्म-विरुद्ध न हों। को मानना चाहिए । यह भी प्रावधान किया गया कि कृषक, व्यापारी, व्यवसायी तथा कारीगरों द्वारा अपने लिए बनाए गए नियमों को राजा भी माने ।[1]

इस युग में राजा वंशानुगत और निर्वाचित, दोनों प्रकार के होते थे । शासन का सर्वोच्च पदाधिकारी राजा स्वयं होता था । उसकी सहायता करने के लिए अन्य अधिकारी भी होते थे। न्याय के कानून सार्वभौम नहीं थे, वर्णों के अनुसार थे । एक ही अपराध के लिए ऊँचे वर्ण के व्यक्ति को कम दण्ड मिलता था, निम्न जाति के व्यक्ति को अधिक दण्ड मिलता था, । अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि राज - व्यवस्था में ब्राह्मण की स्थिति सर्वोपरि थी । गौतम ने व्यवस्था दी थी कि वेदों में पारंगत ब्राह्मण और राजा संसार की नैतिक - व्यवस्था को बनाए रखते हैं । उनके अनुसार ब्राह्मण के अतिरिक्त राजा सबका स्वामी है । ब्राह्मणों को कर नहीं देना पड़ता था। राजा ब्राह्मण पुरोहित की सलाह पर ही राज्य के अनेक कार्यों का संचालन करता था। युद्ध आदि में भी पुरोहित का कर्तव्य संस्कारों को सम्पन्न करना और विजय के लिए प्रार्थना करना होता था । गृह्य - सूत्रों के मर्मज्ञ डा० वी० एम० आप्टे का मत है, "यह व्यवस्था राजा के अधिकारों को परिसीमित करने के लिए की गई थी, जिससे राजा निरंकुश न हो सके । ब्राह्मणों की सभा ।परिषद। का भी उल्लेख मिलता है । पहले ये परिषद राजाओं के समक्ष केवल दार्शनिक प्रश्नों पर विचार - विमर्श के लिए होती थी । बाद में इसने राजा को राज - कार्यों में परामर्श देने का कार्य अपने हाथों में

---

1. गौतम, 11/21-22

ले लिया ।"[1]

इस युग में उपनिषद् युग का प्रभाव था । लोग तत्व - दर्शन और आत्म - दर्शन की ओर पर्याप्त उन्मुख हो चुके थे । लेकिन जन साधारण में वैदिक युग की यज्ञ की परम्परा का भी प्राधान्य था । अनेक प्रकार के यज्ञों का प्रचलन था। तंत्र या जादू का भी पर्याप्त प्रचलन हो गया था। अनेक नए देवी - देवताओं का उदय हो गया था । लेकिन किसी भी दशा में नैतिक परिशुद्धता की उपेक्षा नहीं हुई थी । कर्म - वाद का भी महत्व था । पुनर्जन्म, स्वर्ग और नरक की विचार - धारा भी विकसित होचुकी थी ।[2]

4. महाकाव्यों में समाज - दर्शन

रामायण और महाभारत भारतीय सांस्कृतिक जीवन की महान उपलब्धियाँ हैं । ये दोनों कृतियाँ केवल काव्य नहीं हैं, अपितु ज्ञान और प्रेरणा के अक्षय स्रोत हैं । सहस्रों वर्षों से भारतीय जनता अपने सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में इनसे मार्ग दर्शन प्राप्त करती आ रही है । पश्चिमी विद्वान प्रो० हीरेन ने कहा है, "हिन्दुओं का साहित्य बहुमूल्य है । भारत के रामायण और महाभारत प्रमुख महाकाव्य हैं, जिनकी कोई तुलना नहीं है ।"[3]

महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण को संस्कृत का आदि - काव्य कहा जाता है । यों तो यहमर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के चरित्र से सम्बन्धित है, किन्तु अनेक प्रसंगों में सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विषयों पर गम्भीर विचार व्यक्त किए गए हैं, जिनसे युगीन विचारधारा

---

1. डा० वी० एम० आप्टे, सोशल एण्ड रिलीजसलाइफ इन ग्रेट एपिक, पृ०120
2. आर०सी० मजूमदार, दि वैदिकएज, पृ० 502
3. प्रो० हीरेन, हिस्टॉरिकल रिसर्चेज़, भाग 2, पृ० 147

का परिचय प्राप्त होता है । मैक्डानल इसे ईसा पूर्व या छठी शताब्दी की रचना मानते हैं ।[1] लेकिन विद्वानों में इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है ।

रामायण में जिस युग के समाज का वर्णन है, उसमें चार वर्ण थे और चार आश्रम पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुके थे । सब वर्ण अपने - अपने कर्तव्यों का सुचित रूप से पालन कर रहे थे । परिवार और विवाह संस्था भी पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी । विवाह में एक पत्नी की प्रथा को महत्व दिया जाता था, लेकिन बहु पत्नी प्रथा भी प्रचलित थी। राम एक पत्नी व्रत के आदर्श के प्रतीक हैं । दशरथ बहु पत्नी प्रथा के उदाहरण हैं । स्त्रियों का सम्मान था । पातिव्रत्य की विशेष गरिमा थी ।

रामायण दो संस्कृतियों के संघर्ष की कथा है, देव और असुर। राम देव संस्कृति के प्रतिनिधि हैं और रावण असुर संस्कृति का । इस कथा के माध्यम से दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों को व्यक्त किया गया है । राम सामाजिक आदर्श के प्रतीक हैं । राम के गुणों का वर्णन करते हुए रामायण में कहा गया है, "इस लोक में गुणवान तथा वीर्यवान हैं, कौन धर्मवेत्ता, कृतज्ञताशील, सत्यबोलने वाला, दृढ़व्रती, शुद्ध आचारवाला, सब प्राणियों के हित में लगा हुआ, विद्यावान, समर्थ, प्रियदर्शन, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, क्रोधहीन, तेजस्वी, दूसरों के प्रति असूया न रखने वाला है ? कौन ऐसा है जिसके युद्ध में क्रोध करने पर देवता भी भयभीत हो जाते हैं ?"[2] एक अन्य स्थल पर राम के छः गुण बताए गए हैं - "क्रूरता का अभाव, कोमलता, अनुकम्पा, शास्त्रज्ञान, शील (सुशीलता) स्वेन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण का स्वभाव ।"[3] राम के ये गुण समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुकरणीय माने गए हैं और आज के युग में भी समाज के लिये आदर्श माने जाते हैं ।

---

1. मैक्डानल, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० 308
2. रामायण, बालकाण्ड, 1/2-4
3. अयोध्याकाण्ड, 33/11-12

रामायण में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- चारों सामाजिक मूल्यों की सम्यक् प्रतिष्ठा की गई है, और इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का समन्वय किया गया है । राम राज्य का उपभोग करते हैं, गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हैं, अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए राक्षसों से युद्ध करते हैं, लेकिन साथ - साथ एक महान अनासक्त भाव का परिचय देते हैं । एक अद्वितीय धर्म - तत्व - चिन्तक के रूप में भी हमारे सामने प्रकट होते हैं । यह सन्तुलित सामाजिक दर्शन है, जिसमें योग और भोग, दोनों का समाहार रहता है ।

रामायण में अनेक घटनाओं और पात्रों के माध्यम से अनेक जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है । जैसे, दशरथ कैकेई से हुई प्रतिज्ञा के कारण अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को वन जाने का आदेश देते हैं । और उनके वन जाने पर शोक संतप्त होकर प्राण त्याग देते हैं । यह दशरथ की सत्य-निष्ठा का एक प्रमाण है । राम अपने पिता की आज्ञा - पालन करना धर्म समझते हैं, इसलिए बिना किसी दुःख के पिता की प्रतिज्ञा-रक्षा करने के लिए वन चले जाते हैं । भरत को उनकी माता के प्रयास से राजा का पट प्राप्त होता है, किन्तु वह अग्रज के रहते हुए राजगद्दी पर बैठने को अनैतिक कार्य समझते हैं । इसी प्रकार के सैकड़ों आदर्श या जीवन - मूल्य उस युग की सामाजिक चेतना की उच्चता और उदारता को अभि-व्यक्त करते हैं । रामायण का सामाजिक दर्शन आज भी भारतीय समाज को अनुप्राणित करता है ।

महाभारत काव्य ही नहीं, यह ज्ञान का विश्व कोश कहा जाता है । संसार में इतने बड़ा महाकाव्य किसी भी भाषा में नहीं है । पश्चिमी विद्वान हेमिल्टन ने कहा है, "महाभारत धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धान्तों का वास्तव में एक संग्रह है, जो विस्तार से इन सभी विषयों पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करता है । यह भारतीय जीवन - चरित्र, व्यवहार, राजनीति, धर्म

और दर्शन को दो हजार वर्ष पूर्व की व्याख्या ही नहीं करता बल्कि यह उच्च और गहरे विचारों को हम तक प्रसारित करता है।"[1] सम्पूर्ण ग्रन्थ में कौरव और पाण्डवों के युद्ध की कथा है। किन्तु इस कथा के प्रसंग में सैकड़ों पात्रों के माध्यम से धर्म, समाज, राजनीति, नीतिशास्त्र, युद्ध - विद्या, आदि अनेक विषयों पर बड़ा गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। गीता महाभारत का ही अंग है जो अपनी दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा के लिए विश्व विख्यात है। डा० देवराज ने महाभारत के सम्बन्ध में कहा है, "जिस युग तथा जीवन का चित्र महाभारत में है, वह अनेक प्रकार के अंतर्विरोधों तथा बाहरी - भीतरी द्वन्द्वों से पूर्ण है। महाभारत में इन विरोधों तथा संघर्षों की तीखी चेतना पाई जाती है। महाभारत में जिस युग तथा समाज का चित्रण हुआ है, वह नितांत जटिल एवं संघर्षपूर्ण है। वैदिक काल के आर्य सब आपस में एक होकर तथाकथित दस्युओं से लोहा लेते थे, किन्तु महाभारत - काल में युद्ध तथा वैमनस्य का क्षेत्र स्वयं आर्यों का अपना जीवन था। वहां संघर्ष दो सभ्यताओं या संस्कृतियों के बीच नहीं था. उनका रंगमंच स्वयं आर्यों का भीतरी तथा बाहरी जीवन - प्रवाह था।"[2] इसीलिए महाभारत में विभिन्न पात्रों द्वारा जो अनुचिन्तन हुआ है, उसमें सामाजिक विघटन और सामाजिक संगठन, दोनों के सम्बन्ध में प्रचुर विचार प्राप्त होते हैं तथा वैचारिक विकास और वैचारिक संघर्ष के दर्शन होते हैं। डा० सुशील कुमार डे ने महाभारत के सम्बन्ध में ये आरोप लगाया है कि यह परस्पर विरोधी विचारों का एक ढेर है अथवा इसमें वैचारिक एकता नहीं है।[3]

यह कथन उचित नहीं, क्योंकि महाभारत में संवाद शैली का अनुसरण किया

---

1. दि हेमिल्टन डेली स्पेक्टेटर : मई 31, 1888
2. भारतीय संस्कृति, पृ० 14
3. ~~डा० देवराज~~, राधाकृष्णन, हिस्ट्री ऑफ फिलोसफी ईस्टर्न एण्डवेस्टर्न

किया गया है - विभिन्न प्रकृतियों, प्रवृत्तियों के विभिन्न पात्रों के मुख से संवाद कहलाए गए हैं । ये पात्र तत्कालीन समाज की विभिन्न विचार-धाराओं के प्रतीक हैं । लेकिन यदि हम निष्कर्ष रूप में महाभारत के समाज-दर्शन के परिदर्शन का बोध करना चाहें तो स्पष्ट होगा कि युद्ध समाज के लिए अहितकर है । लेकिन यदि समाज में असद् प्रवृत्तियों का आधिक्य हो तो युद्ध अनावश्यक नहीं है । महाभारत का युद्ध धर्म और न्याय की प्रतिष्ठा के लिए हुआ है । यदि सामाजिक धर्म नहीं रहेगा, तो मनुष्य और समाज, दोनों का अस्तित्व नहीं रहेगा । महाभारत कार ने स्वयं अन्त में कहा है, "मैं बांह उठाकर उच्च स्वर में कह रहा हूं किन्तु कोई सुनता नहीं, धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, उस धर्म का सेवन क्यों नहीं करते ।"[1]

धर्म की व्याख्या करते हुए महाभारत में कहा गया है कि जिससे अभ्युदय और कल्याण होता है, वही धर्म है । धर्म का नाम इसलिए पड़ा कि वह सबको धारण करता है - अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है । धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है, अतः जिससे धारणा और पोषण सिद्ध होता है, वही धर्म है ।[2] महाभारत में वर्ण - धर्म का बड़ा विस्तृत विवेचन है ।

वर्णों के जन्म के सम्बन्ध में महाभारत के शान्ति पर्व में भारद्वाज ने भृगु से पूछा कि एक वर्ण और दूसरे वर्ण में क्या अन्तर है, क्योंकि रंगों के ही अन्तर से उनमें भेद नहीं दिखाई देता । अगर रंगों को ही वर्णों का सूचक मान लिया जाए, तो सब ही सब वर्ण मिले - जुले मालूम होते हैं । काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, मेहनत, आदि एक - दूसरे को पृथक् - पृथक् नहीं करते,

---

1. महाभारत,
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 109/11

तब फिर वर्ण - भेद कैसे सम्भव हुआ था ? भृगु ने उत्तर दिया, "पहले सब ब्राह्मण थे। परन्तु बाद में ब्राह्मण अपने कर्म और अधिकार के कारण उससे बाहर निकलकर एक वर्ण हो गए।"[1] श्रीपाद अमृत डांगे का मत है, "वर्णों के जन्म का भृगु का सिद्धान्त जन्म को आधार न मानकर श्रम -विभाजन को आधार मानता है। उनका मत है कि प्रत्येक इतिहासकार और वे ऋषि, जिनके बारे में यह कहा जाता है कि वर्णों की उत्पत्ति को अलौकिक शक्ति द्वारा उत्पन्न मानते थे, इस बात को मानते हैं कि आर्यों के समाज में वर्णों का विभाजन एक ऐतिहासिक प्रगति है और विकास की एक विशेष अवस्था में ही उदय हुआ। पहले आर्यों के समाज में वर्ण नहीं थे। फिर तीन वर्णों का जन्म हुआ। उनके जन्म का आधार श्रम की योग्यता और उत्पादन के सिवा और कुछ नहीं था। इस बात को सभी हिन्दू शास्त्रों में जहां पर विषय आया है अनेक स्थानों पर विस्तार के साथ बताया है।"[2]

भृगु जी आगे वर्ण - विभेद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके - भोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस का काम करने वाले हो गए और उन्हीं कारणों से जिनके शरीर का रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रियभाव को प्राप्त हुए और क्षत्रिय कहलाने लगे। जिन्होंने गौओं से तथा कृषि कर्म द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति को अपनाया और उसी के कारण जिनके रंग पीले पड़ गए तथा जो ब्राह्मणोचित कर्म को छोड़ बैठे, वे ही वैश्यभाव को प्राप्त हुए। जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गए, लोभवश ब्राह्मणों के समान सभी निंद्य कर्म करके

---

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 109/11
2. श्रीपाद अमृत डांगे, भारत, आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक पृ० 144

जीविका चलाने लगे और इसलिए जिनका रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण से शूद्र हो गए। लोभ विशेष के कारण शूद्र अज्ञानभाव को प्राप्त हुए, वेदाध्ययन के अनाधिकारी हो गए। जो इस सारी सृष्टि को परब्रह्म परमात्मा के रूप में नहीं जानते, वे द्विज कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोगों को नाना प्रकार की दूसरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है। ये ज्ञान - विज्ञान से हीन और स्वेच्छाचारी लोग पिशाच, प्रेत तथा अनेक प्रकार की म्लेच्छ जाति के होते हैं।[1]

पुलस्त्य तथा वायु और पाराशर तथा जनक संवाद में भी वर्ण - व्यवस्था के उद्भव और विस्तार पर प्रकाश डाला गया है। इसमें ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की ही बात की पुनरावृत्ति है।

महाभारत में अनेक स्थलों पर विभिन्न वर्णों के कर्तव्यों का विस्तृत विवेचन हुआ है। एक स्थान पर जन्म से वर्ण - निर्धारण के विधान के प्रति आक्रोश भी व्यक्त किया गया है, "यह क्षत्रिय-धर्म बड़ा पापपूर्ण है और हम सब क्षत्रिय हैं। यह हमारा स्वधर्म हो या अधर्म, हमारे लिए दूसरी वृत्ति नहीं है।"[2]

महाभारत के सम्बन्ध में भारतीय विद्वान डा० अल्तेकर का मत है, "हिन्दू राजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए महाभारत एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। महाभारत का शांति पर्व राजा के कर्तव्य और सरकार के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह राजनीति से सम्बन्धित विधान को व्याख्या करता है तथा राज्य की उत्पत्ति एवं राजत्व के सम्बन्ध में अपने निजी सिद्धान्त निश्चित करता है"।[3]

महाभारत में राजधर्म या राजनीति दर्शन के विभिन्न पक्षों पर विचार और सिद्धान्त व्यक्त किए गए हैं। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध

---

1. महाभारत शान्ति पर्व, 72/10-18
2. उद्योगपर्व - 72, 46
3. डा० अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इनएन्शियेन्ट इण्डिया, पृ० ।

में भीष्म ने दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । उनके मत से राजा की उत्पत्ति देवों द्वारा हुई । एक स्थान में सामाजिक समझौते या संविदा के के सिद्धान्त के भी प्रमाण मिलते हैं । राजा के कर्तव्यों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है । जिसका सार महाभारत कार के केवल इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार एक गर्भवती स्त्री अपने उन्तर्निहित जीव के शुभ की दृष्टि से कार्य करती है , उसी प्रकार राजा को भी जनता की इच्छा का पालन करना चाहिए ।[1] राजा की योग्यताओं के सम्बन्ध में प्रजा को अपना समझने वाला, प्रजा में ममता रखने वाला, राजा पर्वत के समान अविचल बना रहता है । राजा को चाहिए कि मधुरभाषी, निष्कलंक, निराकुल, निर्लोभ, शिक्षित एवं जितेन्द्रिय लोगों को अपने कामों में लगाएं । जिसका हर्ष और क्रोध कभी निष्फल नहीं होता, जो स्वयं ही सारे कार्यों की देखभाल करता है, जिसके पास आत्म विश्वास रूपी कोश है, उसके लिए यह पृथ्वी ही धन देने वाली बन जाती है । राजा को चाहिए कि प्रजा पर अनुग्रह करते हुए ही उससे कर वसूल करें, प्रजा को सताकर नहीं । विद्या, तप, प्रचुर धन, ये सब उद्योग से प्राप्त होते हैं । अतः उद्योग ही मुख्य है ।[2]

महाभारत में विवाह और परिवार के संबंध में भी अनेक विचार मिलते हैं । विवाह की विभिन्न प्रकार की विधियों का उल्लेख है, जैसे-गन्धर्व विवाह, असुरम विवाह आदि । एक पत्नी प्रथा, बहुपत्नी प्रथा के अतिरिक्त काम स्वच्छन्दता, बहुपति प्रथा के प्रमाण मिलते हैं ।

संक्षेप में, महाभारत विभिन्न प्रकार के सामाजिक विचारों, परम्पराओं, दर्शनों का एक समुच्चय है । इससे ज्ञात होता है, उस युग में सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में पर्याप्त विविधता और भिन्नता वर्तमान थी । लेकिन समाज के विवेकी लोग इस विघटन मूलक स्थिति से पूर्ण अवगत थे तथा समाज को एक समुचित, सन्तुलित और सुव्यवस्थित समाज - दर्शन देने के लिये प्रयत्नशील भी थे ।

---

1. शान्ति पर्व 90/3-4, 17

§51 अन्य ग्रन्थों में समाज - दर्शन

हमारा उद्देश्य इस अध्याय में चाणक्य के पूर्व के सामाजिक दर्शनों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना है । इस दृष्टि से अन्य अनेक ग्रंथों का भी उल्लेख किया जा सकता है । लेकिन इनके रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़े मतभेद हैं । उदाहरण के लिए, कुछ लोग मनुस्मृति को चाणक्य से पूर्व की कृति मानते हैं, कुछ बाद की कृति । निस्सन्देह सामाजिक दर्शन की दृष्टि से रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई न कोई मत स्वीकार करना होगा । शोध - छात्रा ने इस संदर्भ में धर्म-शास्त्र के इतिहास के लेखक डा० पी० वी० काणे द्वारा निर्धारित काल सीमाओं को स्वीकार करना उचित समझा है । श्री काणे के मत से मनुस्मृति का जो स्वरूप आज उपलब्ध है, उससे वह चाणक्य के बाद की रचना है । वह कहते हैं, "यह बात सम्भवतः कौटिल्य को ज्ञात नहीं थी, क्योंकि सम्भवतः तब तक यह संशोधन -संपादन नहीं हो सका था, या हुआ भी होगा तो कौटिल्य को यह सूचना ज्ञात नहीं थी"।[1] कौटिल्य के पूर्व के समाज का परिचय प्राप्त करने का एक महत्व पूर्ण स्रोत पाणिनि कृत "अष्टाध्यायी" है । यह व्याकरण का ग्रन्थ है । लेकिन इससे सामाजिक - सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ मिल जाती हैं, परन्तु किसी सामाजिक दर्शन का व्यवस्थित, क्रमबद्ध और सारगर्भित विवेचन नहीं मिलता ।[2] इसलिये इसको विषय - वस्तु का यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जायगा । सामान्य रूप से इससे ज्ञात होता है कि उस काल में वर्णाश्रम व्यवस्था थी, परिवार पितृ प्रधान थे, स्त्रियों का सम्मान था, स्त्रियाँ उच्च शिक्षा भी प्राप्त करती थीं, यज्ञों का महत्व था, मूर्ति पूजा प्रतिष्ठित हो चुकी थी । उस काल में गणतन्त्र और राजतंत्र दोनों पद्धतियाँ प्रचलित थीं।

---

1. डा० पी० वी० काणे, धर्म शास्त्र का इतिहास, पृ० 46
2. देखिए, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष ।

"चाणक्य सूत्राणि" के सामाजिक दर्शन का विवेचन करने के पूर्व हमने चाणक्य पूर्व सामाजिक दर्शन का जो संक्षिप्त पर्यवेक्षण किया है, उससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वैदिक युग अर्थात् ईसा पूर्व चार हजार वर्ष से लेकर ईसा के बाद लगभग पहली शताब्दी तक भारतीय सामाजिक दर्शन के क्षेत्र की प्रवृत्तियों में अनेक परिवर्तन अवश्य हुए, लेकिन आधारभूत सामाजिक मूल्यों में आध्यात्मिक और नैतिक जीवन - मूल्यों को ही प्रधानता रही । समाज का अनुशासन धर्माचार्यों और आध्यात्मिक तत्व-वेत्ताओं से दिशानिर्देश प्राप्त करता रहा । सतत आसुरी और दैवी प्रवृत्तियों का संघर्ष रहा तथा अंततः उदात्त आध्यात्मिक मूल्यों की सार्थकता ही प्रतिष्ठित हुई । लेकिन चाणक्य के पूर्व एक ऐसा भी युग आया, जब जैन और बौद्ध धर्म के आत्यधिक प्रभाव बढ़ने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार पुरुषार्थों का प्राचीन संतुलन भंग हुआ और देश में निष्क्रियता तथा वैराग्य की भावना के कारण से समाज को एक उदासीनता ने परिव्याप्त कर लिया । अनेक विदेशी शक्तियाँ भारत को पदाक्रान्त करने के लिये सक्रिय हो उठीं । इन्हीं निराशा के क्षणों में कौटिल्य का उदय हुआ । और उन्होंने देश में एक नए सामाजिक दर्शन के द्वारा संजीवनी शक्ति का संचार किया । इस महान मनीषी के अथक प्रयासों से भारतीय इतिहास के स्वर्ण - युग का अभ्युदय हुआ । इस विषय का विस्तृत विवरण आगामी अध्याय में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है ।

अध्याय - 3

"चाणक्य सूत्राणि" का परिवेश और परिप्रेक्ष्य

भारत के प्राचीन इतिहास, विशेष रूप से महापुरुषों और ग्रंथों के संबंध में अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न कर दिए गए थे। कुछ भ्रम प्रमाणों के अभाव में हुए। लेकिन अधिकांश विवाद पश्चिमी विद्वानों के अल्पज्ञान अथवा स्वार्थ बुद्धि के कारण उत्पन्न हुए। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मैसूर के प्रसिद्ध विद्वान श्री शाम शास्त्री ने जब चाणक्य रचित "अर्थ-शास्त्र" पुस्तक खोजकर पहली बार प्रकाशित कराई, तो चाणक्य और उनकी कृति दोनों के संबंध में विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। इसी पुस्तक में 'चाणक्य सूत्राणि' के भी कुछ सूत्र परिशिष्ट में प्रकाशित किए गए थे। शास्त्री जी के इस प्रकाशन से सारे संसार के विद्वानों में एक हलचल मच गई और चाण-क्य, उनकी पुस्तक अर्थशास्त्र, चाणक्य सूत्राणि, तीनों के संबंध में विरोधी और अनुकूल मत प्रकाशित होने लगे।" कुछ लोगों ने कहा कि कौटिल्य या चाणक्य कोई व्यक्ति नहीं एक परम्परा का नाम है। कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि चाणक्य मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु और महामंत्री थे।[1] वहीं दूसरे लोगों ने इस मत का खंडन किया। पचास वर्षों तक इस प्रकार के विवाद चलने के बाद अब यह मत प्रतिष्ठित और मान्य हो गया है कि 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' और 'चाणक्य सूत्राणि' ऐतिहासिक व्यक्तित्व चाणक्य की कृतियाँ हैं तथा चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के महामंत्री थे।[2]

उनके संबंध में जनश्रुतियों तथा अन्य अनेक साहित्य-स्रोतों के आधार पर अनेक प्रमाणिक तथ्य प्राप्त कर लिये गए हैं। यहाँ पर इन्हीं स्रोतों से 'चाणक्य सूत्राणि' के लेखक के जीवनकाल, जीवनी, समकालीन परिवेश, आदि के संबंध में संक्षेप में विचार करेंगे, जिससे 'चाणक्य सूत्राणि' के विचारों के विश्लेषण में हमें सहायता प्राप्त होगी।

---

1. वाल्टर इकमेयर, किंग शिप एण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इंडिया, पृ० 193
2. विनय कुमार सरकार, पॉलिटिकल बैकग्राउन्ड ऑफ हिन्दू सोशियोलाजी, पृ०214

1. "चाणक्य सूत्राणि" के लेखक का जन्मकाल

"चाणक्य सूत्राणि" के नाम से ही विदित है कि यह चाणक्य की कृति है। किन्तु चाणक्य के नाम के संबंध में भी पर्याप्त मतभेद है। प्रसिद्ध इतिहासकार, मौर्य साम्राज्य और चाणक्य के विशेषज्ञ डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार, " चाणक्य के अनेक नाम थे। एक पुरानी पुस्तक के अनुसार पारस्यायन, मल्लनाग, कुटल, चाणक्य, द्रमिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल - ये आठ नाम इस आचार्य के थे। एक मत ये है कि विष्णु गुप्त अथवा चाणक्य चणक ग्राम के निवासी थे, इसलिये उनका नाम चाणक्य हुआ और कुटिल गोत्र होने के कारण उनका कौटिल्य नाम पड़ा।

कुछ लोगों का मत है कि ये चणक ऋषि के पुत्र थे, इसलिये इन्हें चाणक्य कहा जाने लगा था। अनेक पुरानी पुस्तकों में अर्थशास्त्र के कर्ता रूप में चाणक्य का उल्लेख किया गया है। कामंदक नीति शास्त्र में चाणक्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र की चर्चा है। दंडी कवि ने "दशकुमार चरित" में आचार्य विष्णुगुप्त (चाणक्य) द्वारा बनाए गए छः हजार श्लोकों वाले अर्थशास्त्र की बात लिखी है। पंचतंत्र, नीति चाणक्यामृत आदि पुस्तकों में भी अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध पंडित आचार्य चाणक्य या कौटिल्य का उल्लेख आता है। टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में "इति कौटल्यः" लिखकर अर्थशास्त्र से उद्धरण दिए हैं।" [1]

चाणक्य के कितने ही नाम हों, लेकिन यहाँ हम इस शोध - प्रबन्ध में चाणक्य नाम का ही प्रयोग करेंगे। चाणक्य का जन्म कहाँ और कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं ज्ञात है। "मुद्राराक्षस" नाटक के अनुसार वह

---

1. डा० सत्यकेतु, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० 215

तक्षशिला - निवासी ब्राह्मण थे । यदि हम चाणक्य को चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु और महामंत्री मान लेते हैं, तो इससे यह अनुमान लगता है कि ईसा पूर्व 350 के आस - पास उनका जन्म हुआ होगा, क्योंकि चन्द्रगुप्त का शासन काल ईसा पूर्व 322 से प्रारम्भ होता है । सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त की संधि ईसापूर्व 303 में हुई थी, ऐसा इतिहासकारों का मत है ।[1] डा० पी० वी० काणे ने "कौटिलीय अर्थशास्त्र" का रचनाकाल ई० पू० 300 के आस-पास स्वीकार किया है । इस दृष्टि से भी चाणक्य का जन्म ई० पू० 350 या इससे पूर्व माना जा सकता है ।

2. चाणक्य का जीवन - परिचय

इतिहासकारों का मत है कि चाणक्य विख्यात तक्षशिला विश्वविद्यालय में आचार्य थे । वह विविध शास्त्रों के महान विद्वान थे । मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य तरुणावस्था में तक्षशिला में विद्या अध्ययन करने गए थे और विष्णुगुप्त चाणक्य की प्रतिभा तथा ज्ञान - वृत्ति से अत्यधिक प्रभावित हो गए थे । कहा जाता है कि लगभग पूर्व मगध के राजा महापद्म नन्द मौरियन गणराज्य के राजा को पराजित करके उसकी रानी को दासी बनाकर अपने अंतःपुर में ले आए थे । चन्द्रगुप्त इसी तथा-कथित दासी का पुत्र था । महापद्म नन्द ने उसके पिता की हत्या की थी, जिसका उसके मन में प्रबल क्षोभ था । वह अनवरत प्रतिशोध की भावना से परिपूरित रहता था । चाणक्य ने उसके तेज और पराक्रम को छात्र - जीवन में ही अनुमानित कर लिया था । अतः उसे पर्याप्त प्रोत्साहित किया । चाणक्य की योजना के अनुसार ही चन्द्रगुप्त मौर्य ने केवल नन्द राजा ही नहीं अनेक राजाओं को पराजित करके एक अभूतपूर्व विशाल साम्राज्य की स्थापना की और जब मौर्य साम्राज्य पूर्ण व्यवस्थित, संगठित और सुरक्षित

---

1. सच्चिदानन्द महाचार्य, भारतीय इतिहास कोश,

हो गया, तो वह पुनः अपने प्रिय तक्षशिला विश्वविद्यालय में आ गए।

चाणक्य के सम्बन्ध में एक विस्तृत विवरण संस्कृत के 'मुद्राराक्षस' नाटक विशाखदत्त रचित में है। उसमें कुछ ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनसे चाणक्य की कूटनीतिक कुशलता, राष्ट्र प्रेम और महान त्याग का परिचय मिलता है। यद्यपि वह एक महान सम्राट के गुरू के पद पर सुशोभित थे, किन्तु उनका व जीवन बहुत सरल था। विशाखदत्त ने उनकी कुटी का वर्णन करते हुए लिखा है, " एक ओर उपलों को तोड़ने के लिए पत्थर का एक टुकड़ा रखा हुआ है, तो दूसरी ओर छात्रों के द्वारा लाया गया कुशों का अम्बार लगा हुआ है। कुटिया की दीवारें ही जीर्ण और पुरानी नहीं, उसकी छाजन भी सुखाई जाने वाली लकड़ियों के भार से काफी नीचे झुकी हुई है"।[1]

आचार्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त का महामंत्री राक्षस नामक व्यक्ति को नियुक्त कराया था, जो बहुत मेधावी, कुशाग्र और निष्ठावान तथा नंद राजा का मंत्री था। मुद्राराक्षस नाटक में उस प्रसंग का वर्णन है, जब चाणक्य पाटलिपुत्र छोड़कर स्वेच्छा से तक्षशिला जा रहे हैं। वह राक्षस को संबोधित करते हुए कहते हैं, "स्वप्न साकार हो गया है, आज मेरी आत्मा पूर्णकाम है, तृप्तकाम है। महामंत्री राक्षस ! आसेतु - हिमालय - विस्तृत जिस मौर्य साम्राज्य का मैंने निर्माण किया है, वह अपने लोक - मंगल के श्रेय में सर्वत्र फलफूल रहा है। सुसंगठित जनशक्ति पर आधारित राष्ट्र का राजदंड अविचल है। सम्राट की चतुरंगिणी अपराजेय है। उसके घोड़ों की टापों से दिशाएँ काँप उठती हैं। यूनानियों की राज्य-लिप्सा अब दलित कर दी गई है। आज मेरी मातृभूमि विदेशी आक्रान्ताओं की गृध्रदृष्टि से निःशंक है। मेरा भारत-सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य अतीत के आर्य - सम्राटों के पदचिन्हों पर चलते हुए पराक्रम एवं प्रजारंजन की नित्य नई स्वर्ण गाथाएँ लिख रहा है।

---

1. वाल्टर ड्रेकमेयर, हिंगजिंग एण्ड कम्यूनिटी इनअर्ली इंडिया पृ0 304

महामात्य राक्षस, तुम्हारे कुशल हाथों में राजा एवं प्रजा दोनों को सौंप कर आज मैं निश्चिन्त हो गया हूँ। कल प्रातः ही मैं तक्षशिला के लिए चल दूँगा। कितने वर्षों से मेरी पाठशाला मेरी प्रतीक्षा कर रही है। सम्राट सहित तुम सब प्रसन्न रहो महामात्य। राष्ट्र ध्वज के दण्ड को चन्द्रगुप्त की बलिष्ठ भुजाएँ अविचल थामे रहें, इस प्रयास में आनो बल - बुद्धि जुटाती रहो।"

आचार्य चाणक्य का इतना ही अल्प परिचय प्राप्त होता है। अनेक जनश्रुतियाँ भी उपलब्ध होती हैं, लेकिन उनकी प्रामाणिकता संदेहास्पद है। कुछ लेखकों ने चाणक्य पर उपन्यास भी लिखे हैं। लेकिन उनमें व्यक्त की गई घटनाएँ विश्वसनीय नहीं कही जा सकती हैं।[1]

वस्तुतः आचार्य चाणक्य अपनी अद्वितीय कृतियों के कारण विश्व में अमर हैं और ये कृतियाँ सदैव उनके महान व्यक्तित्व, कर्मठ जीवन, त्यागवृत्ति, प्रखर पाण्डित्य का उद्घोष करती रहेंगी।

3. तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ

चाणक्य के काल में मौर्य साम्राज्य के पूर्व भारत में कोई विशाल साम्राज्य नहीं था। छोटे-छोटे राज्य थे और उनका कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हो चुका था। राजा पुरु पराजित हुआ और अनेक राज्य भी सिकन्दर के कोप से नहीं बच पाए। देश के सम्मान को बहुत आघात लगा। कहा जाता है कि महान राष्ट्रवादी आचार्य चाणक्य ने मन में ये संकल्प किया कि किसी ऐसे पराक्रमी व्यक्ति का भारत में उदय होना चाहिए, जो छोटे-छोटे बिखरे हुए राज्यों को संगठित करके एक महान शक्ति के रूप में भारत को खड़ा करे।

---

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० 285

प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करें। एक जनश्रुति यह है कि सिकन्दर से चन्द्रगुप्त मिला भी था और वहाँ रहकर उसने यूनानी युद्ध - विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। सिकन्दर चन्द्रगुप्त से विशेष प्रभावित था। और वह भारत - विजय में चन्द्रगुप्त का सहयोग चाहता था। लेकिन आचार्य चाणक्य के परामर्श से वह इस दिशा में नहीं बढ़ा। सिकन्दर वापस चला गया और फिर उसका देहान्त हो गया। इधर आचार्य चाणक्य के निर्देश में चन्द्रगुप्त ने विजय - अभियान चलाया और उसे इतिहास में अभूतपूर्व साम्राज्य की स्थापना का गौरव प्राप्त हुआ। [1]

ईसा पूर्व 305 में यूनानी सेल्यूकस ने पश्चिम से भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त ने उसे सिन्धु पार रोककर पराजित किया। संधि के तथ में उसने सिन्धु पार का सारा प्रदेश - काबुल, हिरात, कन्दहार और बलूचिस्तान चन्द्रगुप्त को सौंपा। सेल्यूकस की कन्या हेलेना का विवाह चन्द्रगुप्त या उसके पुत्र बिन्दुसार से हो गया। बदले में चन्द्रगुप्त ने उसे केवल 500 हाथी दिए। दोनों सम्राटों ने संधि का ईमानदारी से पालन किया। संधि के दो - तीन वर्षों बाद उसने अराकोशिया के एक अनुभवी अधिकारी मेगास्थनेस को पाटलिपुत्र में राजदूत बनाकर भेजा। [2]

इसके बाद भारत वर्ष में यूनानियों ने आक्रमण का कभी साहस नहीं किया। यह आचार्य चाणक्य की दूरदर्शिता, बुद्धि - कौशल का ही परिणाम था। मौर्य-साम्राज्य की स्थापना के पूर्व केवल राजनैतिक स्थिति ही दयनीय नहीं थी, बल्कि धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से भी देश दिशा शून्य हो रहा था। बुद्ध धर्म ने भिक्षुणियों और भिक्षुओं की एक बहुत बड़ी सेना तैयार कर दी थी, जो अहिंसा के मत का प्रचार करते हुए देश में निष्क्रियता और निराशा का वातावरण बना रहे थे।

---

1. पं० जवाहर लाल नेहरू, हिन्दुस्तान की कहानी पृ० 163
2. वी० जी० गोखले, दि बेकिंग ऑफ इंडियन नेशन, पृ० 21

वैदिक धर्म और जैन तथा बौद्ध मतों का आन्तरिक संघर्ष भी चल रहा था। इस प्रकार से समाज विघटन की स्थिति में था। ऐसे घोर आपत्तिकाल में आचार्य चाणक्य का उदय होना देश के लिए वरदान हुआ। उन्होंने एक अति दुश्चिन्तित राजनैतिक और आर्थिक प्रणाली तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के रूप में सुयोग्य, पराक्रमी, शासक देकर राष्ट्र को एक नया जीवन प्रदान किया।

5. आचार्य चाणक्य की कृतियाँ

आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य की कृतियों के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने अथक परिश्रम करके चाणक्य की कृतियों के संबंध में अनेक अनुसंधान किये। परिणाम स्वरूप अब अधिकांश विद्वान निम्नांकित कृतियों को चाणक्य कृत स्वीकार करते हैं।

1. लघु चाणक्य, 109 श्लोक,
2. वृद्ध चाणक्य, 250 श्लोक,
3. चाणक्य नीति दर्पण, 348 श्लोक,
4. कौटिलीय अर्थशास्त्र, 6000 श्लोक
5. चाणक्य राजनीतिशास्त्र, प्रायः 1000 श्लोक,
6. चाणक्य सूत्र, 581 सूत्र,
7. चाणक्य सप्तक, 72 श्लोक,

हम पिछले पृष्ठों में लिख कर चुके हैं कि आचार्य चाणक्य की महान रचना 1905 तक सर्व साधारण के समक्ष नहीं थी। मैसूर के शामशास्त्री ने 1905 से ही चाणक्य के संबंध में लेख लिखने प्रारम्भ कर दिए थे। उनका पहला लेख "इन्डियन एन्टीक्वेरी" 1905 में चाणक्य की भूमि और राजस्वनीति के शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुआ। इसके बाद चाणक्य के अर्थशास्त्र का एक सम्पादित संस्करण 1909 में प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में 'चाणक्य सूत्राणि' के सूत्र भी दिए गए थे। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से भारत और विदेश के विद्वानों में चाणक्य की रचनाओं में अभिरुचि उत्पन्न हो गई तथा अनेक विवादों का जन्म हुआ। कौटिल्य संबंधी इस वाद - विवाद का बड़ा विस्तृत विश्लेषण अनेक भाषाओं के ज्ञाता भारत-विद्या के महान आचार्य डा० बिनय कुमार सरकार ने अपनी पुस्तक "पॉज़िटिव बेक ग्राउन्ड ऑफ हिन्दू सोशियोलाजी" में पाण्डित्यपूर्ण रीति से किया है। उसमें कौटिल्य और अर्थशास्त्र के संबंध में शाम शास्त्री (सन् 1905), स्मिथ (1914-21), हिल ब्रान्ट (1908), हर्टेल (1910-14), आर० के० मुखर्जी (1911), एम० एन० सॉ (1914), के० पी० जायसवाल (1914), बी० के० सरकार (1914-22), हर्मन जेकोबी (1911-12), जूलियस जॉली (1911-16), सी० पसरमियो (1914), जी० बी० बोटाज्जी (1914), सेलोरी (1915), जे० एम० ड क्लोट (1915), कोय (1916), के० बी०आर० अय्यंगर (1916-35), एम० डब्लू० यामस (1916-22), आर० जी० भंडारकर (1919), हरप्रसाद शास्त्री (1920-23), ई० डब्लू हॉकिन्स (1922), पार्गिटर (1922), जे० वार्थेन्टियर (1922), जी० स्टीन (1922) गनपत शास्त्री (1924-25), ब जे० मेहर (1926-27), डी० आर० भण्डारकर (1929), एस० के० अटैकर (1929), वान्सटन (1929), प्राणनाथ (1929-31), पी० बी० काणे (1930), बी० आर० आर० दीक्षितार (1932), बी० ट्रेलोइरा (1934), आदि के विचारों की समीक्षा की है।[1] इसके बाद भी अनेक विद्वानों ने इस विषय पर विचार किया है। वे अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि आचार्य चाणक्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे और अर्थशास्त्र उन्हीं की कृति है। उपर्युक्त विद्वानों के नामों के उल्लेख का आशय यह है कि 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' के प्रकाशन ने विश्व के मूर्धन्य विद्वानों का इतना अधिक ध्यान केवल इसलिये आकर्षित किया, क्योंकि अर्थशास्त्र विश्व की एक अद्भुतिम रचना है।

---

1. डा० बिनय कुमार सरकार, पॉज़िटिव बेक ग्राउन्ड ऑफ हिन्दू सोशियोलाजी, पृ० 209- 362

विश्व के किसी साहित्य में राजनीति, अर्थशास्त्र और समाज - दर्शन के क्षेत्र में इतनी प्रौढ़ रचना देखने को नहीं मिली । भारत वर्ष में भी अर्थशास्त्र के विभिन्न भाषाओं में अनेक भाष्य निकले हैं तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र संबंधी विचारों पर अनेक विद्वतापूर्ण समीक्षाएँ लिखी गई हैं ।

डा० बेनी प्रसाद का मत है, "अर्थशास्त्र पूर्ण रूप से सरकार के संबंध में हिन्दू विचारों का ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ का प्रभाव बाद में राजनीति दर्शन पर काफी पड़ा ।"[1] डा० अल्तेकर का मत है, "अर्थशास्त्र प्रशासन का ही एक ग्रन्थ नहीं है बल्कि यह राजनीतिक ग्रन्थ है, जिसमें राजनीति-दर्शन और प्रशासन के मूलभूत सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है । यह राज्य तथा सरकार के व्यवहारिक कार्यों से संबंधित है, जो शान्ति तथा युद्ध में किस तरह कार्य करें इसको बतलाता है ।"[2] टी० एन० रामास्वामी का मत है, "अर्थशास्त्र में राज्यकला एवं राजनीति संबंधी ज्ञान का भण्डार है । कौटिल्य ने अपने पूर्व के विचारकों के सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या करके उनको नई दिशा दी तथा राज्य-विज्ञान के नए सिद्धान्तों को जन्म दिया ।"[3]

कौटिलीय अर्थशास्त्र के जो वर्तमान संस्करण प्राप्त हैं, उनमें विषयवस्तु का विभाजन इस प्रकार है:-

1.	विनयाधिकारिक	2.	अध्यक्ष प्रचार	3.	धर्मस्थीय
4.	कण्टक शोधन	5.	योग वृत्त	6.	मण्डल योनि
7.	षाड्गुण्य	8.	व्यसनाधिकारिक	9.	अभियास्यत्कर्म
10.	संग्राम	11.	वृत्त संघ	12.	आबलीयस
13.	दुर्गलम्भोपाय,	14.	औपनिषदिक,	15.	तन्त्रयुक्ति

---

1. बेनी प्रसाद, थ्योरी आफ गवर्नमेन्ट इन एन्सिएन्ट इन्डिया, पृ० 150
2. ए० एस० अल्तेकर, स्टेट एंड गवर्नमेन्ट इन एन्सिएन्ट इंडिया, पृ० 10-11
3. टी० एन० रामास्वामी, एसेन्शल्स आफ इंडियन स्टेट क्राफ्ट, पृ० 1

अर्थशास्त्र के अतिरिक्त चाणक्य की कई कृतियाँ भी पाई जाती हैं। वे सामान्य रूप से चाणक्य - नीति के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका और हम उल्लेख कर चुके हैं। इनका एक सुसम्पादित संग्रह "चाणक्य नीति टैक्स्ट ट्रेडीशन" के नाम से विश्वेश्वरा नन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट होशियापुर (पंजाब) से सन् 1964 में प्रकाशित हुआ। ये संस्करण 75 हस्तलिखित प्रतियों और 150 संस्करणों के आधार पर सम्पादित किया गया।

चाणक्य के नाम से एक और ग्रन्थ "चाणक्य सप्तति" प्राप्त हुआ है। इसकी मूलप्रति ताड़पत्र है, जो "विश्वेश्वरानन्द रिसर्च इन्स्टीट्यूट" में सुरक्षित है। इसमें कुल 72 श्लोक हैं, जो चाणक्य के किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं पाए जाते। इसमें चाणक्य और चन्द्रगुप्त के संबंध का स्पष्ट उल्लेख है।[1]

"लघु चाणक्य" की प्राप्त विभिन्न प्रतियों में 93 से लेकर 108 तक सूत्र हैं तथा यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। "वृद्ध चाणक्य" और 'चाणक्य नीति दर्पण' लगभग एक ही ग्रन्थ हैं। "वृद्ध चाणक्य" या "चाणक्य नीतिदर्पण" में सत्रह अध्याय और लगभग 348 श्लोक हैं। "चाणक्य राजनीति शास्त्र" आठ अध्याय में विभक्त है तथा इसके विभिन्न संस्करणों में 253 से लेकर 1000 श्लोक तक मिलते हैं। और इसके बहुत श्लोक "बृहस्पति संहिता" और "गरुड़ पुराण" में भी पाए जाते हैं। एक पुस्तक चाणक्य सार संग्रह भी है जिसे "बोधि चाणक्य" भी कहते हैं। इसमें कुल तीन सौ श्लोक हैं। और तीन शतकों में विभक्त है। चाणक्य-साहित्य के विशेषज्ञ, अमेरिका वासी डा० लुडविक स्टर्नबाच ने संस्कृत में विभिन्न सुभाषित संग्रहों का सूक्ष्म अध्ययन

---

1. विश्वेश्वरा नन्द इन्डोलाजिकल जर्नल, मार्च 1965

करके यह अनुसन्धान किया है कि इन विभिन्न संग्रहों में ऐसे श्लोक और सूत्र हैं, जो चाणक्य के विभिन्न ग्रन्थों में पाए जाते हैं। लेकिन इन्हें इन संग्रहों में दूसरे लेखकों के नाम से प्रकाशित किया गया है। इसके अतिरिक्त चाणक्य के नाम से अनेक श्लोक ऐसे भी मिलते हैं, जो उनके किसी ग्रन्थ में नहीं दिए हुए हैं। जिन सुभाषित संग्रहों को शोध का विषय बनाया गया है, उनके नाम हैं, सारंगधर पद्धति, जल्हणदेव कृत सुभाषित रत्नावली, सूक्ति रत्नाकर, सुभाषित रत्नाकर आदि। इन प्राचीन संग्रहों में चाणक्य के विचारों का उल्लेख होने से यह प्रमाणित होता है कि वह अति प्राचीन काल से अपने विचारों के लिये विद्वानों में ही नहीं जन साधारण में भी अत्याधिक लोकप्रिय रहे हैं।[1]

हमारा विवेच्य ग्रन्थ "चाणक्य सूत्राणि" है, जिसके संबंध में हम अगले पृष्ठों में विचार करेंगे।

---

1. डा० हुडिक स्टर्नबाय, विश्वेश्वरानन्द इन्डोलॉजिकल जर्नल, मार्च 1963

5. विवेच्य ग्रन्थ की रूपरेखा

"कौटिलीय अर्थशास्त्र" का प्रथम संस्करण 1906 में तथा दूसरा 1919 में मैसूर से प्रकाशित हुआ। दूसरे संस्करण में "वार्णक्य सूत्राणि" परिशिष्ट रूप में प्रथम बार संसार के विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत हुआ। इसमें कुल 571 सूत्र थे। सन् 1931 में कलकत्ता से पं० ईश्वर चन्द्र शर्मा "शास्त्री" के द्वारा संस्कृत व्याख्या सहित प्रकाशन हुआ। इसमें शास्त्री जी ने चार प्रतियों की सहायता से इसका सम्पादन किया। इसके उपरान्त "वार्णक्य सूत्राणि" पर विद्वानों का विशेष ध्यान आकर्षित हुआ। तब अनेक प्रकाशकों ने इसके कई संस्करण प्रकाशित किए। सन् 1959 में स्वाध्याय मंडल के संस्थापक वैदिक साहित्य के महान आचार्य श्रीपाद सातव लेकर द्वारा प्रकाशन किया गया। इस संस्करण का भाषान्तर और व्याख्या अनेक ग्रन्थों के प्रणेता श्री ब्रह्म रामावतार विद्याभास्कर ने की।

इधर "कौटिलीय अर्थशास्त्र" के हिन्दी में जो भाष्य प्रकाशित हुए हैं,[1] उनके परिशिष्ट में "वार्णक्य सूत्राणि" ग्रन्थ भी दिया जाने लगा है। अनेक प्राचीन भारतीय कृतियों की तरह इस कृति के रचनाकार और ऐतिहासिकता के संबंध में अनेक प्रश्नचिन्ह लगाए गए। लेकिन अनेक विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है कि यह वार्णक्य की ही कृति है।

"वार्णक्य सूत्राणि" की मैसूर की प्रति में 571 सूत्र हैं, ईश्वरचन्द्र के संस्करण में 599 सूत्र हैं तथा विद्याभास्कर जी के संस्करण में 571 सूत्र ही हैं।

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध में रामावतार विद्याभास्कर के संस्करण का उपयोग किया गया है। "वार्णक्य सूत्राणि" की विषयवस्तु के संबंध में श्री रामावतार विद्याभास्कर का यह कथन द्रष्टव्य है, "इन सूत्रों में विषयक्रम तथा अर्थसंगति, दोनों का प्रायः अभाव है।

---

1. उदयवीर शास्त्री, वाचस्पति गैरोला, डा० रघुनाथ सिंह, आदि के भाष्य लोकप्रिय हैं।

इनमें सूत्रकार ने राजचरित्र - निर्माण के साथ राष्ट्र चरित्र-निर्माण की प्रेरणा देने की दृष्टि से मन में समय-समय पर आने वाली विचार तरंगों का संकलन किया प्रतीत होता है । संभावना है कि उन्हें इनको विषयानुसारता देने का अवसर नहीं मिल पाया । इनमें राजनीति, सामान्य नीति, समाज - धर्म , अर्थ, विनय आदि विषयों का विशदीकर्ण वर्णन हुआ है ।[1]

भारतीय शास्त्रों के विशेषज्ञों का मत है कि संस्कृत वाङ्मय में सूत्र शैली का प्रचलन स्मरण करने की सुविधा की दृष्टि से हुआ । जिस प्रकार से गणित और विज्ञान में फार्मूला बहुत बड़े कथन को संक्षेप में व्यक्त करके विषय का बोध करा देता है, उसी प्रकार से संस्कृत भाषा के सूत्र बहुत बड़े तथ्य, विचार या सिद्धान्त को कुछ शब्दों में व्यक्त कर देते हैं । ऐसा सूत्रों के विशेषज्ञों का मत है कि सूत्र ग्रन्थ विद्यालयों के पाठ्यक्रमों के लिए तैयार किये जाते थे । इससे छात्रों को स्मरण करने में सुविधा होती थी । पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र, पतंजलि योग-सूत्र, गृह्य - सूत्र, धर्म - सूत्र आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ थे । आचार्य चाणक्य को विशालकाय अर्थशास्त्र लिखने के उपरान्त [illegible] 'चाणक्य-सूत्राणि' ग्रन्थ लिखने की क्यों आवश्यकता हुई, जबकि दोनों के विषयों में समानता बहुत है । शोध - छात्रा का मत है कि आचार्य चाणक्य जहाँ एक ओर भारत - सम्राट चन्द्रगुप्त के गुरू थे, वहीं दूसरी ओर तक्षशिला के आचार्य भी थे । आचार्य ने स्वयं घोषित किया है कि यह रचना (अर्थशास्त्र) सम्राट के मार्ग - दर्शन के लिये लिखी गई है । स्वाभाविक है केवल सम्राट ही नहीं, बल्कि यह राजकीय कार्यों से संबंधित सभी अधिकारियों के लिए थी । अतः इसमें विषय का अधिकाधिक स्पष्टीकरण होना परमावश्यक था । इसीलिए इसमें विषय का विस्तार अधिक है ।

---

1. चाणक्य सूत्राणि, भूमिका भाग, पृ0 24

इसके विपरीत "चाणक्य सूत्राणि" सम्भवतः छात्रों और अध्यापकों के उपयोग के लिए लिखी गई। इसमें यह आशा की जाती है कि छात्र सूत्र के द्वारा विषय का स्मरण कर लेगा तथा उसकी विस्तृत व्याख्या गुरुमुख से प्राप्त करेगा। अर्थशास्त्र में अनेक व्यावहारिक विषयों के अत्यन्त सूक्ष्म विवरण भी दिए गए हैं, लेकिन "चाणक्य सूत्राणि" विशुद्ध रूप से एक सैद्धान्तिक ग्रंथ है। इस कारण से भी यह अर्थशास्त्र की तुलना में लघुकाय है।

प्रत्येक लेखक के विचारों में अनुभव और ज्ञान के आधार पर न्यूनाधिक परिवर्तन की प्रक्रिया चला करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र की रचना ऐसी विषम परिस्थितियों में हुई थी, जिनके कारण शाश्वत सिद्धान्तों की अपेक्षा समकालीन परिस्थितियों को दृष्टि में विशेष रखना पड़ा था और "चाणक्य सूत्राणि" की रचना शान्त क्षणों में हुई है। इसीलिए इसमें आचार्य के व्यक्तित्व का सैद्धान्तिक पक्ष अधिक प्रोज्ज्वल रूप में उद्घाटित हुआ है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ विद्वानों और जनसाधारण के लिए विशेष मनन योग्य है।

6. "चाणक्य सूत्राणि" का सामाजिक दर्शन की दृष्टि से महत्व और विशेषताएँ

प्रथम अध्याय में समाज - दर्शन की संकल्पना का विवेचन करते हुए कहा गया था कि समाज - दर्शन समाज संबंधी उन नियमों और सिद्धान्तों का विवेचन है, जिनका अनुसरण करके मनुष्य और समाज अधिक सम्पन्नत, विकसित, सुसंगठित तथा सुसंस्कृत हो सकें। विश्व विख्यात दार्शनिक बट्रेन्ड रसेल ने अपनी समाजदर्शन की सुप्रसिद्ध पुस्तक समाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त में लिखा है, "संसार को एक ऐसे दर्शन या एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जो जीवन को बढ़ावा दें। परन्तु जीवन को प्रोत्साहन देने के लिये जीवन के अलावा भी किसी वस्तु पर ध्यान देना आवश्यक है। केवल जीवन को समर्पित जीवन पशुवत होता है,

उसमें कोई वास्तविक मानवीय मूल्य नहीं होता, उसमें मनुष्य को हमेशा के लिए शिथिलता और इस भावना से सुरक्षित रखने की क्षमता नहीं होती कि सब कुछ मिथ्या है । यदि हम चाहते हैं कि जीवन पूर्णतः मानवोचित हो, तो किसी ऐसे उद्देश्य को पूरा करना चाहिए, जो किसी न किसी दृष्टि से मानव - जीवन के क्षेत्र के बाहर हो, कोई ऐसा लक्ष्य जो अवैयक्तिक हो और मानवता से परे हो, जैसे ईश्वर या सत्य या सौन्दर्य ।"[1]

लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व आचार्य चाणक्य ने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए "चाणक्य सूत्राणि" के माध्यम से एक प्रयोग और अनुभूति पर आधारित समाज - दर्शन प्रस्तुत किया था । "चाणक्य - सूत्राणि" विशुद्ध रूप से पाश्चात्य दार्शनिक अवधारणा के अनुसार समाज - दर्शन का एक अद्वितीय ग्रन्थ है । इसमें व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार के निर्धारण के सम्बन्ध में ऐसे सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं, जो प्रत्येक देश और काल में सदैव मार्ग दर्शन का कार्य करेंगे । इसमें समाज की विभिन्न प्रकार की मूलभूत समस्याओं का अध्ययन और विश्लेषण करके ऐसे विचार प्रस्तुत किए गए हैं, जिससे समाज की विघटन मूलक प्रवृत्तियों का नियंत्रण होगा, विनाशक प्रवृत्तियों का निरसन होगा और संघटक वृत्तियों का विकास होगा, समाज में सहयोग और सद्भाव पुष्पित और पल्लवित होगा । यह ग्रन्थ सामाजिक निर्माण, समाजिक प्रगति तथा सामाजिक नियंत्रण के अनेक सूक्ष्म तत्वों का विवेचन और विश्लेषण करता है ।

इस ग्रन्थ की महत्ता इसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने में है । आचार्य चाणक्य लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व हुए थे । उस समय पश्चिम-वासी ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से अंधकार-युग में थे । पश्चिम का सबसे बड़ा और प्राचीनतम समाज - दार्शनिक प्लेटो ईसा पूर्व 428 में हुआ था । उसके

---

1. बर्ट्रेन्ड रसेल, सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त, पृ0 205

बाद वहाँ वैज्ञानिक सामाजिक चिन्तन की धारा धीरे-धीरे विकसित हुई और आज विश्व में पश्चिमी दार्शनिकों का आधिपत्य सा है। भारतीय चिन्तन हमारे विश्वविद्यालयों में भी नाममात्र को ही पढ़ा - पढ़ाया जाता है। यह दुर्भाग्य और अज्ञान की स्थिति है। भारत वर्ष का समाज - दार्शनिक चिन्तन पश्चिम से कहीं अधिक पुराना, उन्नत और उदात्त है। "चाणक्य सूत्राणि" इसका ज्वलन्त उदाहरण है। पश्चिम में बहुत छोटे विषय को अति विस्तार से प्रस्तुत करने की परम्परा है। उदाहरण के लिए पश्चिम में समाज - शास्त्र के जन्मदाता और समाजिक दर्शन सुविख्यात व्याख्याता ऑगस्ट कॉम्ट ने सन् 1830 में छः भागों। लगभग चार हजार पृष्ठों में अपना "पॉज़िटिव फिलॉसफी" नामक समाज - दर्शन का ग्रन्थ लिखा। इसमें अधिकांश विषय "कौटिलीय अर्थशास्त्र" और "चाणक्य सूत्राणि" के हैं। लेकिन भारतीय मनीषी आचार्य चाणक्य ने कुछ ही पंक्तियों में ही गहन ज्ञान को प्रस्तुत करके अपनी अपूर्व मेधा का परिचय दिया। तात्पर्य यह है कि "चाणक्य सूत्राणि" ग्रन्थ पश्चिमी आधुनिकतम समाज दार्शनिक ग्रन्थों की तुलना में अधिक उद्बोधक, प्रेरक और सार्थक है। यदि इसका पश्चिमी समाज - दर्शन के संदर्भ में अनुशीलन प्रस्तुत किया जाए, तो इसकी महत्ता का सम्यक उद्घाटन हो सकेगा।

इस संदर्भ में यह विशेष द्रष्टव्य है कि "चाणक्य सूत्राणि" सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन ग्रन्थ है। इसका दर्शन और इसके सिद्धान्तकम से-कम आज के हालों-बुरे भारतीय समाज के लिए नितान्त उपयोगी हैं। नागरिकों में राष्ट्र के प्रति प्रेम, नैतिक-सामाजिक मूल्यों के प्रति समादर, जीवन के प्रति आस्था, मानवता की प्रगति के प्रति उत्साह के विकास और परितुष्टि के लिए यह विशेष सहायक होगा।

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध का लक्ष्य समाज - दर्शन के महान ग्रंथ "चाणक्य सूत्राणि" के सामाजिक चिन्तन का पश्चिमी समाज - दर्शन और परितुष्टि की पृष्ठभूमि में एक अनुशीलन प्रस्तुत करना है। जिससे भारत

के प्राचीन सामाजिक चिन्तन की मौलिकता व्यापकता और समग्रता का सम्यक सम्बोध हो सकें । आगामी अध्यायों में आधुनिक शोध - प्रणाली की तार्किक प्रक्रिया और प्रविधि के अनुसार "चाणक्य सूत्राणि" के समाज - दार्शनिक पक्षों का विश्लेषण करने का एक विनम्र प्रयास किया जा रहा है ।

कौटिल्यकृत

'चाणक्यसूत्राणि' के सामाजिक दर्शन

का

आलोचनात्मक अनुशीलन

तृतीय खण्ड : परिशीलन

अध्याय ४

'चाणक्यसूत्राणि' का व्यक्तित्व-निर्माण का दर्शन

अध्याय ५

'चाणक्यसूत्राणि' का परिवार-दर्शन

अध्याय ६

'चाणक्यसूत्राणि' का सामाजिक संरचना का दर्शन

अध्याय ७

'चाणक्यसूत्राणि' का राज-दर्शन

अध्याय ८

'चाणक्यसूत्राणि' का धर्म-दर्शन

अध्याय ९

'चाणक्यसूत्राणि' के अन्य दर्शन

अध्याय १०

उपसंहार

अध्याय - 4

" चाणक्य सूत्राणि के व्यक्तित्व - निर्माण का दर्शन "

व्यक्ति समाज या राष्ट्र की एक इकाई है । यदि समाज एक विशाल भवन के समान है और व्यक्ति उसकी ईंट है । यदि भवन को सुन्दर सुदृढ और सुविधाजनक बनाना है, तो ईंटों का सुन्दर और सुदृढ होना अनिवार्य है। यदि ईंटे निर्बल और अनगढ़ है, तो भवन सुन्दर और सुदृढ नहीं हो सकेगा । यही स्थिति समाज की है । जिन व्यक्तियों के सहयोग से समाज या राष्ट्र का निर्माण हुआ, यदि वे सुसंस्कृत, परिष्कृत, शक्तिशाली और विवेकी नहीं है । तो वह समाज, वह राष्ट्र अव्यवस्थित होगा । इसी विचार को दृष्टि में रखकर प्राचीन ऋषियों, धर्म - तत्व - वेत्ताओं, दार्शनिकों ने व्यक्ति और व्यक्तित्व के सम्यक विकास के लिये सतत प्रयास किया है । "चाणक्य सूत्राणि का लेखक इस तथ्य से पूर्ण रूप से अवगत है । उसने व्यक्तित्व के विधि आयामों के नियमन और निर्देशन के लिए अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये है ।

इस अध्याय में आधुनिक पाश्चात्य व्यक्तित्व सिद्धान्तिकों के परिप्रेक्ष्य में चाणक्य के व्यक्तित्व निर्माण संबंधी सिद्धान्तों के आकलन का प्रयास किया गया है । पश्चिम में व्यक्तित्व का अध्ययन कई दृष्टियों से किया गया है, जैसे दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, नीतिशास्त्रीय, आदि । "चाणक्य सूत्राणि का लेखक इन सब दृष्टियों का अपने विवेचन में समाहार करता है । हम यहाँ सर्वप्रथम व्यक्तित्व की पाश्चात्य और भारतीय संकल्पनाओं पर विचार करेंगे । इसके उपरान्त चाणक्य के विचारों का विश्लेषण करेंगे ।

1. व्यक्तित्व की पाश्चात्य अवधारणा

व्यक्तित्व और संस्कृति के संबंध का अनुशीलन करने से पूर्व दोनों की अवधारणाओं का परिचय प्राप्त कर लेना अपेक्षित है । व्यक्तित्व को अंग्रेजी में "पर्सनैलिटी" कहते हैं । "पर्सनैलिटी" शब्द लैटिनभाषा के "परसोना" से बना है, जिसका अर्थ है वह चेहरा जो रोम के अभिनेता रंग-मंच पर अभिनय करते समय लगाते थे । यह शाब्दिक अर्थ है । व्यावहारिक जीवन में पर्सनैलिटी का अर्थ शारीरिक लक्षण होता है । हम नित्यप्रति बोल-चाल में कहते हैं, अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व अच्छा है या व्यक्तित्व बुरा है । इसका आशय यह होता है कि वह शारीरिक दृष्टि से अच्छा या बुरा है । मनोवैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार "व्यक्तित्व" का यह अर्थ एक पक्षीय है । मनोवैज्ञानिक व्याख्या में व्यक्तित्व के अंतर्गत मनुष्य की दैहिक, मान-सिक और सांस्कृतिक विशेषताएं, तीनों सन्निविष्ट हैं । थूले व्यक्तित्व की परिभाषा करते हैं, "व्यक्तित्व संवेगात्मक स्वभाव की प्रणाली है, जो व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार करने की विशिष्ट विधियों को निर्धारित करती है ।" (एन. एल. अनुसार, व्यक्ति) मन के, व्यक्तित्व के संगठनों, व्यवहार की विधियों, रुचियों, अभिवृत्ति, क्षमताओं, योग्यताओं और प्रवणताओं का अत्यधिक विशिष्ट समाकलन है ।"

उडवर्थ ने व्यक्तित्व की परिभाषा इस प्रकार की है, "जब हम किसी व्यक्तित्व के संबंध में किसी को कुछ बातें बताते हैं, तो कहते हैं कि अमुक व्यक्ति दबंग, उत्साही, अध्यवसायी, सरल और प्रसन्नचित है । क्षण भर आप सोचें, तो आपको पता चलेगा कि व्यक्ति के ये गुण विशेषण न होकर क्रिया विशेषण हैं । ये व्यक्ति के बाहर के तरीकों का ज्ञान कराते हैं ।

किसी का आचरण मनोहर होता है, तो किसी का आचरण चिढ़ या खीझ पैदा करता है । एक उत्साह पूर्वक कार्य करता है, दूसरा सुस्ती से । व्यक्तित्व को प्रकट करने वाले ये शब्द विभिन्न क्रियाओं के नाम नहीं हैं, वरन् व्यवहार के गुणों के नाम हैं । एक छोटे से काम से भी व्यक्ति का व्यक्तित्व झलक सकता है । व्यक्तित्व की परिभाषा मोटे तौर पर इस प्रकार की जा सकती है कि व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहार का समग्र गुण है, जैसा कि वह उसके विचार, अभिव्यक्ति की रीति, उसकी अभिवृत्ति और रुचि, उसके कार्य करने के ढंग और उसके व्यक्तिगत जीवन - दर्शन से प्रकट होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से विदित होता है कि समस्त विद्वान व्यक्तियों द्वारा समाज में विशेष परिस्थितियों में उपयोग किए जाने वाले व्यावहारिक गुणों को व्यक्तित्व मानते हैं । व्यक्ति के आचरण अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के होते हैं । अच्छे आचरण वाले का व्यक्तित्व अच्छा और बुरे आचरण वाले का व्यक्तित्व बुरा माना जाता है । संक्षेप में, व्यक्तित्व का यही अर्थ है । व्यक्तित्व के संबंध में मनोवैज्ञानिकों ने अनेक स्वतंत्र पुस्तकें लिख डाली हैं । हमें यह विचार करना है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में किन परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ता है । इसके लिये हम मान सकते हैं कि व्यक्तित्व व्यक्ति के उन समग्र गुणों को कहते हैं, जिससे वह एक मानव बनता है ।

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की एक प्रक्रिया होती है । इस प्रक्रिया के तीन पक्ष होते हैं ।

(1) व्यक्तित्व का एकीकरण,

(2) सामाजिक आदतों और मनोवृत्तियों का अर्जन तथा ,

(3) स्व का विकास ।

2. व्यक्तित्व की भारतीय अवधारणा

व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का अध्ययन भारतीय मनोविदों ने भी किया है। पश्चिमी और भारतीय परिप्रेक्ष्य में आधारभूत अन्तर है। पश्चिमी विद्वान व्यक्तित्व के अध्ययन में भौतिक और मानसिक तत्व को ही प्रधान मानते हैं, जबकि भारतीय विद्वान आत्मा के तत्व की प्रधानता को प्रथम स्थान देते हैं। यही कारण है कि मानव व्यक्तित्व के अध्ययन में पश्चिमी विद्वान पूर्णरूप से सफल नहीं हुए।[1] डा० ब्रान्ति प्रकाश आत्रेय ने इस विषय का विस्तृत विवेचन अपने दो ग्रन्थों, "भारतीय मनोविज्ञान" तथा "योग मनोविज्ञान" में किया है। उनका मत है, "पाश्चात्य आधुनिक मनोविज्ञान का आधार ठोस न होने के कारण उसका यह भी ज्ञान भी अन्य ज्ञानों के समान अधूरा है। आधुनिक मनोविज्ञान ठीक - ठीक यह नहीं बता सकता कि एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न क्यों है? वह अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व क्यों रखता है? भौतिकवाद के ऊपर आधारित मनोविज्ञान व्यक्तित्व के विषय में बहुत से प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता। उसके अनुसार तो मृत्यु के पश्चात व्यक्ति और व्यक्तित्व दोनों समाप्त हो जाते हैं, किन्तु अनेक ऐसे तथ्य तथा अनुभव प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह कथन असत्य सिद्ध होता है। मृत्यु व्यक्तित्व का अंत नहीं कर पाती। स्थूल शरीर समाप्त हो जाता है, किन्तु समस्त संस्कारों और वासनाओं सहित सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है, जो मरने के बाद भी दूसरों को प्रभावित करता रहता है। इसके अतिरिक्त वैसे भी यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि बहुत से महान पुरुषों के मरने के बाद आज भी संसार उनसे प्रभावित है"।[2]

---

1. क. स्वामीराम, "योग एण्ड साइकोथैरेपी"
   ख. स्वामी अखिलानन्द, हिन्दू साइकोलॉजी,
   ग. बी०एल० आत्रेय, एन इन्ट्रोडक्शन टु पैरा साइकोलॉजी
   घ. जी० कोस्टर, योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलॉजी
   च. पी० एन० श्री निवासचारी, आइडिया ऑफ पर्सनैलिटी
2. डा० ब्रान्ति प्रकाश आत्रेय, योग मनोविज्ञान, पृ० 287

सांख्य योग के अनुसार सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर मिलकर व्यक्तित्व कहलाता है । मृत्यु के बाद स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, किंतु सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व बना रहता है । सूक्ष्म शरीर के साथ संस्कार के रूप में अनेक जन्मों के कर्माशय विद्यमान रहते हैं । इन कर्माशयों की विभिन्नता के कारण ही व्यक्तित्व में भिन्नता रहती है । कर्मों में परिवर्तन करके व्यक्तित्व को परिवर्तित किया जा सकता है । धर्म, योग, अध्यात्म में बताए गए अनेक उपाय व्यक्तित्व - परिवर्तन में सहायक होते हैं ।

भारतीय चिकित्साशास्त्र वात, पित्त और कफ के आधार पर व्यक्तियों का वर्गीकरण करता है । आयुर्वेद का मत है कि इन तीन तत्वों के कारण ही मनुष्य के शारीरिक गठन, स्वभाव और आचरण में भिन्नता आती है । योग-शास्त्र व्यक्तित्व के पाँच भेद करता है, 1. क्षिप्त, 2. मूढ़, 3. विक्षिप्त, 4. एकाग्र, 5. निरुद्ध । कर्मों के आधार पर भी व्यक्तित्व-वर्गीकरण किया गया है- 1. शुक्ल कर्म, 2. कृष्ण कर्म, 3. शुक्ल-कृष्ण कर्म, 5. अशुक्ल-अकृष्ण कर्म ।

भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर भी व्यक्तित्व-वर्गीकरण होता है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के व्यक्तित्व का अलग - अलग विश्लेषण शास्त्रों में विस्तार पूर्वक दिया गया है । उदाहरण के लिए ब्राह्मण का सात्विक, क्षत्रिय का राजस, वैश्य का राजस और तामस तथा शूद्र का तामस प्रधान व्यक्तित्व माना गया है । गीता में प्रधान रूप से दो व्यक्तित्व माने गए हैं, दैवी और आसुरी । दोनों वर्गों के अलग-अलग गुण और कर्म बताए गए हैं । सामान्य रूप से सात्विक, राजसिक, तामसिक गुणों के आधार पर किया गया वर्गीकरण अधिक मान्य है । भारतीय शास्त्र यह भी स्वीकार करते हैं कि ज्ञान, कर्म और तप से उक्त तीनों गुणों से परे अर्थात त्रिगुणातीत अवस्था में पहुँचा जा सकता है । यह व्यक्तित्व की सर्वोच्च

स्थिति है । इसे ही कैवल्यावस्था भी कहते हैं । भारतीय आचार्यों का मत है कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सतत प्रयास करना चाहिए । यह अवस्था लौकिक जीवन के समस्त कार्यों को और विचारों को सुनियोजित करके प्राप्त की जा सकती है ।

3. चाणक्य के व्यक्तित्व - दर्शन के आधार

चाणक्य के समग्र दर्शन का आधार वैदिक विचार से अनुप्राणित है । वह अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ही कहते हैं, "मानव-जीवन के लिए चार विद्यायें उपयोगी हैं, 1. आन्वीक्षकी, 2. त्रयी, 3. वार्ता और 4. दण्डनीति। त्रयी के अंतर्गत सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेद आते हैं । उनके अनुसार अथर्ववेद और इतिहास भी वेद कहे जाते हैं । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद-विचार और ज्योतिष, ये छः वेदांग हैं । चाणक्य कहते हैं कि त्रयी में निरूपित धर्म चारों वर्णों और चारों आश्रमों को अपने - अपने धर्म (कर्तव्य में) स्थिर रखने के कारण लोक का बहुत ही उपकारक है ।[1]

"चाणक्य सूत्राणि" में भी चाणक्य कहते हैं कि वेद से बाहर धर्म नहीं है ।[2] वैदिक धर्म के अंतर्गत वह वर्णाश्रम-धर्म को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं । इस दृष्टि से वेदों में तथा बाद में धर्म-शास्त्रीय ग्रन्थों में मनुष्य के व्यक्तित्व -निर्माण के लिये जो नियम और सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, उनको भी कुछ संशोधनों के साथ मान्यता प्रदान करते हैं । वस्तुतः वर्णाश्रम - धर्म व्यक्तित्व - निर्माण का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है । प्रत्येक मनुष्य जन्म के समय पशु तुल्य होता है । लेकिन समाज में रहकर उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है ।

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० 9-10
2. न वेदबाह्यो धर्मः (चा०सू०) 1/4/4।

यह प्रक्रिया समाज की परम्पराओं, संस्कारों, नीतियों, आदर्शों और मूल्यों द्वारा निर्धारित होती है। वर्णाश्रम - व्यवस्था इन समस्त सामाजिक - सांस्कृतिक उपादानों को प्रदान करती है, जिससे व्यक्ति पशु से मनुष्य में रूपान्तरित होता है।

वर्णाश्रम - व्यवस्था के तीन आधारभूत तत्वों धर्म, अर्थ और काम को आचार्य चाणक्य स्वीकार करते हैं। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने चार पुरुषार्थ माने हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, लेकिन आचार्य चाणक्य "चाणक्य सूत्राणि" और "अर्थशास्त्र" दोनों में तीन पुरुषार्थों का उल्लेख करते हैं। सम्भवतः मोक्ष को वह धर्म के अंतर्गत ही स्वीकार कर लेते हैं।

इन पुरुषार्थों या मूल्यों में धर्म और अर्थ को सर्वाधिक महत्व देते हैं। वह कहते हैं कि जीवन का परम लक्ष्य सुख की प्राप्ति करना है। सुख धर्म द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[1] धर्म का मूल अर्थ है।[2] तथा अर्थ की प्राप्ति के लिए इन्द्रिय - विजय अर्थात् संयम को सर्वोपरि महत्व देते हैं। स्वर्ग को अच्छे सुख का स्रोत कहा गया है। आचार्य चाणक्य कहते हैं कि तप से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[3] वह तीसरे पुरुषार्थ काम को तुष्टि - सातत्य के लिए स्वीकार करते हैं। वह विवाह को अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं।[4]

लेकिन वह कहते हैं, "काम का भी वह सेवन करें, किन्तु उससे धर्म और अर्थ को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। सर्वथा सुख रहित जीवन - यापन न करें। परस्पर अनुबद्ध धर्म, अर्थ और काम, इस त्रिवर्ग का संतुलित उपभोग करें। इस त्रिवर्ग का असंतुलित उपभोग बड़ा दुःखदायी सिद्ध होता है"।[5]

---

1. सुखस्य मूलं धर्मः। चा० सू०।
2. धर्मस्य मूलमर्थः। चा० सू० 2
3. तपसा स्वर्गमाप्नोति। चा० सू० 569
4. कौटिलीय अर्थशास्त्र। 58/2/1/
5. कौटिलीय अर्थशास्त्र। 3/6/3

इस प्रकार चाणक्य की दृष्टि में व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति है। चाणक्य की धर्म की धारणा का विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में किया जायेगा।

यहाँ द्रष्टव्य है कि आधुनिक युग के विचारक कार्ल मार्क्स केवल अर्थ को महत्व देते हैं। फ्रायड केवल काम तत्व को मुख्य प्रेरक मानते हैं। हमारे प्राचीन धर्माचार्य केवल धर्म को प्रधानता देते हैं। लेकिन आचार्य चाणक्य यथार्थवादी या व्यावहारिक चिन्तक के रूप में तीनों के सन्तुलन में विश्वास करते हैं। वह धर्म की तुलना में अर्थ की उपेक्षा नहीं करते हैं। आचार्य चाणक्य का अभिमत है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में अर्थ प्रधान है। धर्म और काम अर्थ पर निर्भर हैं।[1] सारा संसार अर्थ के लिए कर्म में प्रवृत रहता है।[2] लेकिन वह यह भी कहते हैं कि बहुत अधिक धन व्यक्तित्व का हनन करता है। उनके अनुसार ऐश्वर्य पैशाचिकता रहित नहीं होता[3] तथा धनोपासक सुकर्मों में श्रम नहीं करते।[4]

4. चाणक्य के अनुसार व्यक्तित्व के भेद

चाणक्य ने विभिन्न प्रसंगों में व्यक्ति के विभिन्न प्रकार से भेद किए हैं। साधु और असाधु, मूर्ख और विद्वान, धार्मिक और नास्तिक, स्वस्थ और रुग्ण, सत्पुरुष और दुराचारी या सन्त और दुर्जन, खल और सज्जन आदि अनेक नामों के अंतर्गत व्यक्तित्व वर्गीकृत किए गए हैं। यह वर्गीकरण मुख्य रूप से मूल्यों या आदर्शों पर आधारित है।

---

1. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः, अर्थ मूलौ हि धर्मकामाविति। कौ0अ0 3/6/1
2. अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः। चा0 सू0 पृ 502
3. नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम्। चा0 सू0 - 353
4. नास्ति धनवतां सुकर्मसु श्रमः। चा0 सू0 354

आचार्य वार्ष्णेय ने यह माना है कि राज्य के राजा का व्यक्तित्व आदर्श होना चाहिए, जिससे जन साधारण उसका अनुसरण और अनुकरण कर सकें। उनके अनुसार आदर्श व्यक्तित्व में इन्द्रिय जय को सर्व-प्रथम स्थान दिया गया है। वह अर्थशास्त्र में कहते हैं, "विद्या और विनय का हेतु इन्द्रिय जय है। अतः काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका को उन विषयों शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियजय कहलाता है"।[1] अथवा "शास्त्रों में प्रतिपादित कर्तव्यों के सम्यक अनुष्ठान को ही इन्द्रियजय कहते हैं। सारे शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है। शास्त्र विहित कर्तव्यों ~~के विपरीत~~ के विपरीत आचरण करने वाला इन्द्रिय - लोलुप राजा सारी पृथ्वी का अधिपति होता हुआ भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।"[2] इसलिए काम-क्रोधादि छः शत्रुओं का सर्वथा परित्याग करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करें। विद्वान पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करें। गुप्तचरों द्वारा स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के वृतान्त को अवगत करें। उद्योग के द्वारा राज्य के योग - क्षेम का सम्पादन करें। राजकीय नियमों द्वारा अपने-अपने धर्म पर दृढ़ बने रहने के लिए प्रजा पर नियंत्रण रखे। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से प्रजा को विनम्र और शिक्षित बनावे। प्रजाजनों को धन - सम्मान प्रदान कर अपनी लोकप्रियता को बनाए रखे। दूसरों का हित करने में उत्सुक रहे।"[3] "इस प्रकार इंद्रियों को वश में रखता हुआ वह (राजा) पराई स्त्री, पराया धन और हिंसा - प्रवृत्ति को सर्वथा त्याग दें। असमय शयन करना, चंचलता, झूठ बोलना, अविनीत वृत्त बनाये रखना, इस प्रकार के आचरणों को और इस प्रकार के आचरण वाले लोगों की संगति को वह छोड़ दें। उसको चाहिए कि वह अधर्माचरण और अनर्थकारी व्यवहार का भी परित्याग कर दें।"[4]

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 3/5/1
2. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 3/5/2
3. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 3/6/1
4. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 3/6/2

"चाणक्य सूत्राणि" में आदर्श राजा के व्यक्तित्व में जिन गुणों की अपेक्षा की गई है. उनमें इन्द्रियविजय, विनय, ज्ञान वृद्धों की सेवा, व्यवहार कुशलता, कर्तव्य परायणता, सत्य निष्ठा, और शास्त्र अनुगामन, निरालस्य आदि मुख्य हैं।[1]

5. भौतिक, मानसिक, आत्मिक व्यक्तित्व और "चाणक्य-सूत्राणि"

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक[2] और समाजशास्त्री व्यक्तित्व-विश्लेषण में व्यक्तित्व के प्रधान रूप से तीन आयाम मानते हैं. भौतिक, मानसिक और सामाजिक। भारतीय परम्परा के अनुसार आत्मा के पक्ष को भी स्वीकार किया जाता है। चाणक्य ने न्यूनाधिक रूप से चारों पक्षों का विवेचन किया है।

अति प्राचीन काल से पूर्व और पश्चिम दोनों में व्यक्तित्व के निर्धारण के भौतिक पक्षों पर विचार हो रहा है। शरीर के आकार, खोपड़ी की बनावट, ग्रन्थियाँ आदि को लेकर अनेक मत व्यक्त किए गए हैं। नृतत्व शास्त्र (एन्थ्रोपोलॉजी) ने शरीर की रचना का अध्ययन करके कुछ विचार दिए हैं। भारत वर्ष में ज्योतिष-शास्त्र के सामुद्रिक शास्त्र में शरीर के विभिन्न अंगों की बनावट और हाथ-पैर की रेखाओं के आधार पर व्यक्तित्व का अनुमान लगाने का प्रयास किया गया। प्राणिशास्त्र और नृतत्वशास्त्र में आनुवांशिकता के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है, अर्थात् जिन जीवाणुओं के संयोग से बालक का जन्म होता है, उन्हीं के द्वारा व्यक्तित्व निर्धारित होता है। यह सिद्धान्त आज भी मान्य है।

~~1. चाणक्य सूत्राणि 3/6/2~~

1. चाणक्य सूत्राणि 4, 5, 6, 7, 48.
2. के० डेविस, ह्यूमन सोसाइटी, पृ० 234-55.
   लापियरे एण्ड फ्रन्सवर्थ, सोशल साइकोलॉजी, पृ० 183-220
   थार्प एण्ड सुमनर, पर्सनैलिटी, पृ० 284, 307

§79§

आचार्य चाणक्य ने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में प्रजातीय या जीवाणु के सिद्धान्त को स्वीकार किया है । वह कहते हैं कि जैसा बीज होगा, वैसा फल होगा ।[1] इसका आशय यही है कि जिन माता-पिता के रक्त से सन्तान का जन्म होगा, वैसे ही सन्तान का आकार-प्रकार, स्वभाव, आदि होगा । आधुनिक मनोवैज्ञानिक और नृतत्व शास्त्री यह मानते हैं कि केवल वंश परम्परा ही व्यक्तित्व के निर्धारण का कारण नहीं है, सामाजिक परिवेश ,परिवार, शिक्षा-दीक्षा का भी प्रभाव होता है । चाणक्य आगे एक सूत्र में कहते हैं कि जैसी शिक्षा होगी, वैसी बुद्धि होगी ।[2] जैसा कुल होगा, वैसा आचार होगा ।[3] लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वह वंशानुगत तत्व को विशेष महत्व देते हैं, क्योंकि एक स्थान पर चाणक्य ने कहा है, "गुड़ आदि संस्कारों से संस्कृत भी निम्बवृक्ष अपनी स्वाभाविक तिक्तता त्याग कर आम्रवृक्ष नहीं बन जाता ।[4] अर्थात प्रजातीय विशेषताएं मनुष्य के व्यक्तित्व में बहुत बड़ा योगदान करती हैं ।

एक अन्य स्थान में वह कहते हैं कि जैसा शरीर होगा, वैसा ही ज्ञान होगा ।[5] यदि वंश या प्रजातीय दृष्टि से व्यक्ति ऐसी प्रजाति में जन्म लेता है जिसका बौद्धिक और मानसिक विकास नहीं हुआ है, तो उसकी सन्तानें भी सामान्यतः अविकसित ही रहेंगी ।

---

1. यथाबीजं तथा निष्पत्तिः/चा०सू०-458
2. यथा श्रुतं तथा बुद्धिः / चा०सू०-459
3. यथा कुलं तथा ~~s s~~ चारः/ चा०सू० -460
4. संस्कृतः पिशुमन्दो न सहकारो भवति /चा०सू०-461
5. यथा शरीरं तथा ज्ञानम् /चा०सू०-408

यद्यपि समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नृतत्व शास्त्र आदि के विद्वानों ने वंशानुक्रमण सिद्धान्त के सम्बन्ध में अनेक खंडन -मण्डन प्रस्तुत किए हैं, किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सका है कि वंशानुक्रमण शारीरिक गुणों और मानसिक योग्यताओं को प्रभावित करता है । ~~किसी समय~~ पाश्चात्य विचारक रथ बैंडिक्ट ने कहा है, " वंशानुक्रमण माता-पिता से संतानों को प्राप्त होने वाले गुण हैं ।"[1] जे०एफ० क्यूबर के अनुसार, "इसके अन्तर्गत वे समस्त गुण और विशेषताएं आती हैं, जोकि एक व्यक्ति में हैं, क्योंकि वह जातियों का नमूना है ।"[2] बी०चिसबर्ट, "प्रकृति में पीढ़ी का प्रत्येक कार्य कुछ जैविकीय या मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को माता-पिता द्वारा उनकी सन्तानों को हस्तान्तरित करना है"।[3] बील्स एण्ड होइजर, " वंशानुक्रमण का अर्थ, वस्तुओं का अपनी जाति की वस्तुओं का प्रजनन करने की प्रवृत्ति है ।"[4] इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग हुए हैं, लेकिन वंशानुक्रमण की सत्ता अटल बनी हुई है । अतः चाणक्य का बीज सम्बन्धी सिद्धान्त आज भी महत्वपूर्ण बना हुआ है ।

आचार्य चाणक्य बुद्धि और ज्ञान को जीवन में बड़ा महत्व प्रदान करते हैं । विशेष रूप से जब वह अर्थशास्त्र में चार विद्याओं का उल्लेख करते हैं, तो वह सर्वप्रथम विद्या आन्वीक्षकी देते हैं । डा० जे०एन०उपाध्याय ने अपने 'न्याय-शास्त्र' ग्रन्थ में आन्वीक्षकी की परिभाषा करते हुए कहा है, जिस प्रकार शुद्ध भाषा के लिए व्याकरण की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार शास्त्र-विवेचन के लिए तर्क की आवश्यकता होती है । आचार्य चाणक्य

---

1. रथ बेन्डिक्ट, रेस एन्ड रेलिजन, पृ० 53
2. जे०एफ०क्यूबर, सोशियोलॉजी, पृ०150
3. बी०चिसबर्ट, फन्डामेन्टल ऑफ सोशियोलॉजी, पृ०229
4. बील्स एन्ड होइजर, एन इन्ट्रोडक्शन टु एन्थ्रोपोलॉजी, पृ० 55

[81]

स्वयं कहते हैं कि आन्वीक्षकी [तर्क-शास्त्र] सभी शास्त्रों का प्रकाशक, सभी कार्यों का साधक, सभी धर्मों का आश्रय कहा जाता है ।[1] चाणक्य ने वेदों से भी पहला स्थान आन्वीक्षकी को दिया है । इससे प्रतीत होता है कि वह मनुष्य के व्यक्तित्व में तर्कपूर्ण बुद्धि के महत्व को सर्वप्रथम स्थान देते हैं । चाणक्य सूत्राणि में कहा गया है, अपनी सुतीक्ष्ण बुद्धि से लोक-चरित्र को समझना ही ज्ञान या सर्वज्ञता है ।"[2] जो व्यक्ति शास्त्र का ज्ञाता है, लेकिन लोक-व्यवहार को समझने में उसका व्यवहार नहीं करता है, चाणक्य ने उसे मूर्ख कहा है अर्थात् शास्त्र-ज्ञान का उपयोग तर्कपूर्ण और ज्ञान बुद्धि से करना चाहिए ।"[3] चाणक्य ने पुत्रों के लिए विद्या ज्ञान परमावश्यक माना है ।"[4] उनकी दृष्टि में जो व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ है और बुद्धिमान है, उसके शत्रु नहीं होते ।[5] बुद्धिहीन को चाणक्य पिशाच के समान मानते हैं ।[6] व्यक्तित्व के विकास के लिए केवल जन्मजात प्रखर बुद्धि ही नहीं होनी चाहिए अपितु शास्त्रों के और विद्याओं के ज्ञान से व्यक्तित्व के मानसिक पक्ष को अधिक समृद्ध बनाया जा सकता है, इसी-लिए आचार्य चाणक्य चार विद्याओं आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति के अध्ययन का निर्देश देते हैं । दूसरे शब्दों में वह मानसिक व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हैं ।" अपनी/अनुभव/शक्ति

---

1. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् /
   आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता/कौ0अ0 1/1/1
2. सर्वज्ञतालोकज्ञता/चा0सू0 542
3. शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः/चा0सू0 543
4. पुत्रा विद्यानां पारं गमयितव्याः/चा0सू0382
5. नास्ति बुद्धिमतां शत्रुः/चा0सू0534
6. बुद्धिहीनः पिशाचादन्यः/चा0सू0 527

और विचारशक्ति दोनों के सहारे से परिणाम के कारणों का ठीक-ठीक पता चलाकर किस कारण से यह काम इस प्रकार होना है, अपना कर्तव्य स्थिर करे"।[1] "कर्म के अव्यर्थसाधनों को पहचानने वाला बुद्धिमान व्यक्ति कठिन समझे हुए कर्मों को भी सरल बना लेता है।"[2]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के अभाव में उसका व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सकता है। जब चाणक्य वेद सम्मत वर्णाश्रम-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं, तो उसमें सामाजिकता का स्वतः समावेश हो जाता है। वर्ण-व्यवस्था में व्यक्ति जब किसी वर्ण का सदस्य होता है, तो शेष तीन वर्णों के प्रति अर्थात् शेष समाज के प्रति उसके कर्तव्य स्वयं निश्चित हो जाते हैं। आचार्य चाणक्य सामाजिक गुण के रूप में धर्म को सर्वोपरि स्थान देते हैं, वह कहते हैं, "धर्म ही मानव-समाज का संरक्षक है।"[3] "व्यवहार में कुशल ही वास्तव में बुद्धिमान है।"[4] "चाणक्य सूत्राणि" में सम्पूर्ण समाज, परिवार, राष्ट्र, शत्रु और मित्र के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इसका स्पष्ट निर्देश है। इसमें दया, परोपकार, क्षमा, सत्यनिष्ठा, आपद्धर्म आदि के सम्बन्ध में भी कहा गया है। यह सब सामाजिक गुण हैं। इनसे समाज की व्यवस्था प्रभावित होती है तथा समाज के सुचारू रूप से संचालन में सहायता प्राप्त होती है। केवल समाज और राष्ट्र की ही उन्नति नहीं होती है, बल्कि स्वयं व्यक्ति जब इन गुणों को अंगीकार कर लेता है, तो उसका जीवन सरल हो जाता है। उसके मार्ग की बाधाएँ कम हो जाती हैं, क्योंकि यह सामान्य नियम है कि व्यक्ति जैसा व्यवहार

---

1. ज्ञानानुमानेश्च परीक्षा कर्तव्या/चा०सू० 116
2. दुःसाध्यमपि सुसाध्यं करोति उपायज्ञः/ चा०सू० 118
3. धर्मेण धार्यते लोकः/ चा०सू० 234
4. लोके प्रज्ञस्तः समतिमान/चा०सू० 240 (अधिक सूत्र)

दूसरों के प्रति करेगा, उसी प्रकार का व्यवहार उसके साथ भी होगा। लेकिन में, "चाणक्य सूत्राणि" में व्यक्तित्व के सामाजिक पक्ष को विशेष महत्व दिया गया है।

व्यक्तित्व का चौथा पक्ष आत्मिक है। "चाणक्यसूत्राणि" के प्रथम सूत्र के अनुसार धर्म सुख का मूल है, अर्थात् मनुष्य को अपने समस्त उपायों का उपयोग अन्ततः आत्म-विकास के लिए करना चाहिए। "चाणक्य सूत्राणि" में कहा गया है कि आत्मा के उद्धार के लिए या आत्मिक व्यक्तित्व के विकास के लिए पृथ्वी के समस्त स्वार्थों का परित्याग कर देना चाहिए। निम्नांकित चार सूत्र आचार्य के महान सामाजिक दर्शन और व्यक्तित्व-दर्शन, दोनों को अद्भुत रीति से व्यक्त करते हैं - अपने ग्राम के देश द्रोही हो जाने पर उसे छोड़कर देश का साथ दें। जब किसी का कुटुम्ब ग्राम की शान्ति का विघ्न बन रहा हो, तब वह कुटुम्ब को त्यागकर ग्राम को अपनाए।[1] पुत्र के कुटुम्ब की शान्ति में विघ्न बन जाने पर उसे त्याग दे और कुटुम्ब को अपनाए रहे।[2] आत्म-कल्याण के लिए अपने सम्पूर्ण पार्थिव स्वार्थों को त्याग दे।[3] यों तो चारों आश्रम-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जाने वाले होते हैं। यदि प्रत्येक आश्रम के कर्तव्यों का सम्यक् पालन किया जाय। किन्तु सन्यास-आश्रम, अन्तिम सीढ़ी है। सन्यासी के लिए भी चाणक्य ने "अर्थ शास्त्र" में कर्तव्य बताए हैं। सन्यासी का धर्म -जितेन्द्रिय होना, वह किसी भी सांसारिक कार्य को न करे, निर्विकल्प बना रहे, एकाकी रहे, प्राणरक्षा मात्र के लिए स्वल्पाहार करे, समाज में न रहे, जंगल में भी एक स्थान पर न रहे, मन, वचन, कर्म से अपना भीतर-बाहर पवित्र रखे।[4]

---

1. ग्रामार्थे कुटुम्बत्यज्यते। चा०सू० 384।
2. कुटुम्बार्थे पुत्रस्त्यज्यते /चा०सू० 384।
3. आत्मार्थे सर्वं त्यजति/चा०सू० 384/
4. परिव्राजकस्य ——— च शौचम् /को०अ० 1/2/2

"चाणक्य सूत्राणि" के अनेक सूत्रों में आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में विचार दिए गए हैं, जैसे-ज्ञानी व्यक्तियों के लिए संसार में दुःख का भय नहीं रहता ।[1] ज्ञानी पुरुष अपने मन को ब्रह्मानन्द स्वरूपी दीपक से आलोकित करके रखता है और संसार-बंधन में फँसने से बच जाता है ।[2] सम्पूर्ण भौतिक सुख और समस्त साधन अनित्य हैं ।[3] जन्म-मरण आदि में दुःख ही दुःख है ।[4] तप से स्वर्ग का लाभ होता है ।[5] चाणक्य के उक्त विचार यह प्रतिपादित करते हैं कि संसार माया है, इसमें बन्धन ही बन्धन हैं । मुक्ति दुःख से निवृत्ति है । इस लक्ष्य की प्राप्ति संसार के प्रति एक अनासक्त भाव विकसित करने और उसी के अनुसार कर्म करने से सम्भव है । आत्मिक विकास के समस्त कर्मों में तप का महत्व चाणक्य स्वीकार करते हैं । यह दर्शन समाज को अनावश्यक स्पर्धा, प्रतियोगिता और ईर्ष्या-द्वेष की भावनाओं से मुक्त करने का एक सकारात्मक प्रयास है, क्योंकि इसमें व्यक्ति और समाज दोनों को अपना लक्ष्य ज्ञात होता है । इस अन्तिम लक्ष्य-आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति में किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती और किसी से प्रतियोगिता नहीं होती है । फलतः व्यक्ति समाज में शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने में योगदान करता है । ऐसा व्यक्ति सामाजिक रूप से निष्क्रिय होने पर सूक्ष्म रूप से अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा समाज में एक सर्जनात्मक प्रभाव डालता रहता है । पश्चिमी समाज-दर्शन व्यक्तित्व के इस परमोज्ज्वल पक्ष का विवेचन करने में बहुत कम सफल हुए हैं, क्योंकि उनके समाज में इसका सम्यक् विकास नहीं हुआ ।

---

1. न संसारभयं ज्ञानवतां /चा०सू०564 /
2. विज्ञान दीपेन संसारभयं निवर्तते /चा०सू० 565 /
3. सर्वमनित्यं भवति/चा०सू० 566
4. जन्ममरणादिषु दुःखमेव/चा०सू० 568
5. तपसा स्वर्गमाप्नोति/चा०सू० 569

6- "चाणक्य सूत्राणि" के अनुसार व्यक्तित्व के संघटक और विघटक तत्व

व्यक्तित्व का निर्माण अनेक तत्वों के संयोग से होता है । ये तत्व जिस मात्रा में संगठित होते हैं, उसी रूप में व्यक्तित्व के संगठन का सृजन होता है । पश्चिमी विद्वान किंग्सले डेविस ने व्यक्तित्व की एकता या संश्लिष्टता के लिए पांच तत्व आवश्यक माने हैं-शारीरिक सातत्य, स्मृति, लक्ष्य, आदर्श और सामाजिक स्थिति ।[1]

व्यक्ति समाज का एक सार्थक अंग रहे तथा परिवार और अपने जीवन सम्बन्धी कार्यों को समुचित रूप से सम्पन्न करता रहे। इसके लिए वह केवल जीवित ही न रहे, अपितु स्वस्थ और शक्तिवान रहे । दूसरा तत्व स्मृति का है । संगठित व्यक्तित्व के लिए के यह आवश्यक है कि वह मानसिक रूप से स्वस्थ हो । उसकी स्मृति पूर्ण रूप से स्वस्थ और सक्रिय हो, जिससे वह अतीत के तथ्यों और अनुभवों को स्मरण रख सके । बिना इसके वह अपने भावी जीवन का संचालन नहीं कर सकता है तथा समाज में सम्बन्धों को बनाए नहीं रख सकता है । तीसरा तत्व लक्ष्य है । संश्लिष्ट व्यक्तित्व के लिए व्यक्ति के समक्ष कुछ लक्ष्य या उद्देश्य होने चाहिए, जिनको प्राप्त करने के लिए वह अपने जीवन की गतियों को संचालित करे । जिस व्यक्ति का जैसा लक्ष्य होगा, उसी के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का निर्माण होगा । लक्ष्य प्राप्त करने के लिए समाज द्वारा साधन प्रदान किए जाते हैं, कुछ साधन व्यक्ति स्वयं अपने प्रयास से उपलब्ध करता है । यों तो प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रयत्नों से अपनी सामाजिक स्थिति का निर्माण करता है, लेकिन जन्म से भी व्यक्ति को एक सामाजिक स्थिति प्राप्त होती है । यह स्थिति उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक या बाधक

---

1. के0डेविस, ह्यूमन सोसाइटी, पृ0 44।

होती है । व्यक्ति अपने प्रयत्नों से स्थिति में परिवर्तन भी कर सकता है ।

इस सैद्धान्तिक पृष्ठ भूमि में "चाणक्य सूत्राणि" में व्यक्तित्व-निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जा सकता है । चाणक्य मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देह से आसक्ति होती है वह अपने वर्तमान शरीर को छोड़कर इन्द्रपद पर भी जाना नहीं चाहता ।[1] चाणक्य शारीरिक रचना के लिए प्रजाति(रेस) को मुख्य निर्धारक मानते हैं । उनके अनुसार शरीर के रूप, क्षमता आदि में नस्ल या प्रजाति का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इस तत्व को आधुनिक वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं, जैसा बीज होगा वैसा ही परिणाम होगा।[2] अर्थात् जैसे माता-पिता होंगे वैसी सन्तान होगी । शारीरिक स्वास्थ्य के लिए सन्तुलित भोजन की महत्ता को स्वीकार किया गया है, कहा गया है कि परिमित भोजन ही स्वास्थ्य प्रदान करने वाला होता है[3] बिना विवेक के भोजन नहीं करना चाहिए । जो खाद्य-अखाद्य का विवेक नहीं रखते हैं, उनका शरीर रोगग्रस्त हो जाता है । जब भूख लगी हो तभी भोजन ग्रहण करना चाहिए[4] ऐसा व्यक्ति कभी रोगी नहीं होता । रोगी, क्षुद्र, निर्बल देह में बढ़ती व्याधियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।[5] जिसे अजीर्ण रोग हो, उसे भोजन नहीं करना चाहिए । अजीर्ण में भोजन को विषतुल्य माना है ।[6] आचार्य चाणक्य कहते हैं कि रोग शरीर के लिए शत्रु से भी घातक है ।[7] आचार्य चाणक्य शरीर से ही बुद्धि का सम्बन्ध मानते हैं ।

---

1. देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं न वांछति । चा०सू०484
2. यथाबीजं तथा निष्पत्तिः। चा०सू०458
3. मितभोजनं स्वास्थ्यम् । चा०सू० 218
4. जीर्णभोजनं व्याधिर्नोत्पद्यते । चा०सू० 220
5. जीर्णे शरीरे कीर्णानं व्याधिं नोपेक्षयेत । चा०सू० 221
6. अजीर्णे भोजनं दुःखम् । चा०सू० 222
7. शत्रोरपि विशिष्यते व्याधिः । चा० सू० 223

वह कहते हैं, जैसा शरीर होगा, वैसा ही ज्ञान होगा अर्थात् बुद्धि होगी।[1] जैसी बुद्धि होगी वैसा ही वैभव होगा।[2] चाणक्य व्यक्तित्व में स्मृति को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। वह कहते हैं कि व्यक्ति चार विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करे। इतिहास, पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिक, धर्मशास्त्र, आदि का अध्ययन करके बुद्धि का विकास प्राप्त करे। इस प्रकार वह स्मृति के महत्व को जीवन में स्वीकार करते हैं।[3] व्यक्तित्व-निर्माण के तीसरे और चौथे तत्व लक्ष्य और आदर्श हैं। इन तत्वों का समावेश वर्ण और आश्रम व्यवस्था में सन्निहित है, जिसे चाणक्य स्वीकार करते हैं। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के अपने-अपने लक्ष्य हैं तथा उनके लिए निर्धारित आदर्श भी हैं। इस दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम मनुष्य के तीन लक्ष्य हैं और इनको प्राप्त करने के विधि-विधान भी शास्त्रों द्वारा निर्धारित किये जा चुके हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन "चाणक्य सूत्राणि" की सामाजिक संरचना का दर्शन अध्याय में किया जाएगा।

अन्तिम तत्व सामाजिक परिस्थिति या स्थिति है। पश्चिमी समाजों की तरह भारत में इस सन्दर्भ में कोई अनिश्चितता नहीं थी। वर्ण-व्यवस्था के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जन्म से ही निर्धारित हो जाती थी। चूंकि "चाणक्य-सूत्राणि" वेद-मत को मानता है, इसलिए यहां यह प्रश्न जटिल नहीं बना। इसके उपरान्त भी चाणक्य ने यह स्वीकार किया है कि एक व्यक्ति अपने ही वर्ण में अपनी स्थिति को प्रयत्न के द्वारा सुधार सकता है। विवेक और कर्म के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक सूत्रों में स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं, जैसे बच्चे को अपनी मां के स्तनों से दूध प्राप्त करने के लिए आघात करना पड़ता है, प्रबल पुरुषार्थ के लिए उद्यत

---

1. यथा शरीरं तथा ज्ञानम् । चा० सू० 408
2. यथा बुद्धिस्तथा विभवः । चा० सू० 409
3. श्रुताद्धि .....सामर्थ्यम् । कौ० अ० 2/4/2

व्यक्ति दैव से भी कष्ट नहीं होते ।[1] पहले से असफलता निश्चय करने वालों के काम सिद्ध नहीं होते ।[2] ऊँच-नीच सोच-विचार कर कार्य करने वालों के कार्यों में न विघ्न आता है न असफलता मिलती है।[3] इनके अतिरिक्त चाणक्य ने उन अनेक तथ्यों का भी निर्देश किया है, जिनके अनुसरण से व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में और योगदान होता है । सत्यधन से सम्पन्न व्यक्तियों के लिए कोई भी प्राप्तव्य वस्तु अप्राप्य नहीं रह जाती ।[4] मुख्य काम, क्रोधादि विकारों की अधीनता स्वीकार करके अपने चरित्र के विपरीत कोई ऐसा काम न कर बैठे कि वह जीवन भर हृदय में चुभने वाला काँटा बन जाए ।[5] किसी का साधारण देखकर उसके महत्त्वपूर्ण गुणों को अस्वीकार नहीं करना चाहिए ।[6] निर्गुण दीखने वाला भी गुणवान् के संसर्ग में रहता हुआ गुणी हो जाता है ।[7] जैसे सुआरा जल में अपने को संकट में डालकर ही मछली पाता है, मछली उसका स्वार्थ है, वैसे ही पुरुषार्थी मानव उठे, संकट में पड़े, सफलता रूपी अपने देय को विघ्नों से बचाकर सुरक्षित रखे और अपना कार्य सिद्ध करे ।[8] संसार में शरीर-रक्षा के लिए मोटा अन्न और कन्दमूल भी पर्याप्त है ।[9] आचरण अपने कुल के अनुरूप होना चाहिए ।[10] विनय युक्त विद्या सब भूषणों में श्रेष्ठ भूषण है ।[11]

---

1. नास्ति दैवाद् कार्यसिद्धिः । चा०सू० 128
2. न दैवप्रमाणानां कार्यसिद्धिः । चा०सू० 129
3. न परीक्ष्यकारिणां कार्यविपत्तिः । चा०सू० 138
4. नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम् । चा०सू० 149
5. कदाचिदपि चरित्रं न लंघयेत । चा०सू० 163
6. नाल्पदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते । चा०सू० 169
7. गुणवदाश्रयान्निर्गुणोऽपि गुणी भवति । चा०सू० 176
8. मत्स्यार्थीव जलमुपजुष्यार्थं दूषयेत् । चा०सू० 186
9. यवागूरपि प्राणधारणं करोति लोके । चा० सू० 271
10. कुलानुरूपं वृत्तम् । चा०सू० 331
11. [illegible] । चा०सू० 369

किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व सामान्य, संगठित या आदर्श है, इसका निर्धारण समाज के निर्धारित मूल्यों और प्रतिमानों के द्वारा होता है । जब कोई व्यक्ति इन मूल्यों और आदर्शों के अनुरूप आचरण नहीं करता है, तो उसके व्यक्तित्व को विघटित माना जाता है । आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत असामान्य मनोविज्ञान (एबनॉर्मल साइकोलाजी), समाज शास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक व्याधिकी (सोशल पैथोलॉजी), सामाजिक विघटन (सोशल डिसऑर्गनाइजेशन) आदि विविध व्यक्तित्व-विघटन के पहलुओं का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं ।[1] पश्चिमी समाज शास्त्री जे०एस० गिलिन ने लिखा है कि जब व्यक्ति अपने समाज की वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप आंशिक या पूर्ण रूप से सामन्जस्य नहीं कर पाता है, तो ऐसे व्यक्ति का व्यक्तित्व विघटित माना जाता है, ऐसा होने के अनेक कारण हो सकते हैं । व्यक्ति शारीरिक या मानसिक रूप से असमर्थ हो सकता है, रोगग्रस्त हो सकता है, उसकी शिक्षा पर्याप्त न हो, उसने ऐसी आदतों का विकास कर लिया हो जिनके कारण उसे समाज में जीवन-यापन करने में कठिनाई हो, मानसिक रूप से उद्विग्न हो, नशाखोरी के कारण सामान्य जीवन न व्यतीत कर पाता हो, आर्थिक दृष्टि से इतना असमर्थ हो कि वह अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण न कर सकता हो, धार्मिक सामाजिक मूल्यों के साथ उसका सामन्जस्य न हो पाया हो , आदि ऐसे ही अनेक कारण हो सकते हैं ।[2]

---

1. जे०डी०पेज, एबनॉर्मल साइकोलॉजी
   जे०ड्रेवर, डिक्शनरी ऑफ साइकोलॉजी
   ई०आर०मोरर, डिसऑर्गनाइजेशन पर्सनल एण्ड सोशल
   इलियट एण्ड मेरिल, सोशल डिसऑर्गनाइजेशन
2. जे०एस० गिलिन, सोशल पैथोलॉजी, पृ० 21

आचार्य चाणक्य ने वैयक्तिक चिंतन या व्यक्तित्व-चिंतन के उक्त पक्षों पर गम्भीरता पूर्वक अर्थशास्त्र और "चाणक्य सूत्राणि" दोनों में विचार किया है । "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में व्यसनाधिकारिक अधिकरण में व्यसनों का विश्लेषण करते हुए वह कहते हैं कि लोभ और काम कदापि गुणों की कोटि में नहीं रखे जा सकते हैं, वे अनेक अनर्थ पैदा करने वाले हैं । लोभ के कारण मनुष्य सबका द्वेषी बन जाता है, अनेक शत्रु बन जाते हैं, दुःख उसके सिर पर मंडराया करते हैं, कामी पुरुष सर्वत्र तिरस्कृत होता है, धन नाश करता है, चोर, जुआरी, शराबी आदि अनर्थकारी व्यक्तियों से उसका साथ होता है ।[1] जुआ खेलने वालों में एक की अक्षय हार होती है, जैसे नल और युधिष्ठिर का हुआ । जुए में जीता हुआ धन पराए मांस की तरह है, हारने वाला जुआरी जीते हुए से बैर भी ठान लेता है । जुआ खेलते समय लघुशंका, दीर्घशंका और मूत्र रोकने से अनेक बीमारियां हो जाती हैं । जुए की अपेक्षा मृगया में व्यायाम, वात-पित्त का नाश, मेदा न बढ़ना, पसीना निकलने से शरीर का हल्का होना, चलते हुए निशाना बांधने का अभ्यास होना, जानवरों के चित्त की , क्रोध और भय से उत्पन्न विभिन्न चेष्टाओं का ज्ञान होना । मृगया में ये सब गुण हैं, जो द्यूत में असम्भव हैं ।[2] चाणक्य ने स्त्रीव्यसन को जुए से भी अधिक हानिकर माना है। स्त्रीव्यसन के सहकारी-मद्यपान, जुआ आदि उसके पीछे लग जाते हैं, इसलिए द्यूत की तुलना में स्त्रीव्यसन अधिक हानिकारक है । मद्यपान के सम्बन्ध में वह कहते हैं, " विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है, अच्छा व्यक्ति भी उन्मत्त के समान हो जाता है, जीता हुआ भी मरे के समान हो जाता है, उसके गुप्त पापों का पता लग जाता है, उसका शस्त्र ज्ञान तथा संस्कृत बुद्धि आदि का विनाश हो जाता है, सज्जनों की संगति से दूर हो जाता है, अनर्थकारियों से संसर्ग हो जाता है ।"[3]

---

1. नेति ——— संयोगःकामः । कौ0अ0129/3/1 पृ0567
2. नेति - - - - - नित्ययानं चेति /कौ0अ0129/3/1 पृ0569
3. संसर्गाः - - - - [illegible] /कौ0अ0129/3/1 पृ0571

"चाणक्य सूत्राणि" में भी इन व्यक्तित्व-विघटक तत्वों का स्पष्ट विश्लेषण है । इस सन्दर्भ के कुछ सूत्र द्रष्टव्य हैं :-
व्यसनासक्त से सफल कर्म नहीं हो पाता ।[1] व्यसनासक्त व्यक्ति ध्यानाभाव से कर्तव्य विमुढ़ हो जाता है ।[2] धर्म विरोधी काम से विपरीत कामना करने वाला मानव, अपने जीवन को व्यर्थ करता है, समाज में अशान्ति उत्पन्न करता है तथा समाज को नष्ट कर देता है ।[3] आग में आग न डाले, क्रोध के उत्तर में क्रोध न करे ।[4] अनियंत्रित मन वाले अविवेकी लोगों का क्रोध, आत्म-कल्याण का विनाशक होता है ।[5] कामासक्त चरित्रहीन व्यक्ति किसी कार्य को भलीभाँति नहीं कर सकता है ।[6] द्यूतासक्त लोग कर्तव्य-विहीन होते हैं ।[7] मृगया व्यसनी के धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जाते हैं ।
जिन व्यसनों का उल्लेख उपरोक्त पंक्तियों में किया गया है, वे मुख्य रूप से मनोविज्ञान की दृष्टि से नैसर्गिक प्रवृत्तियों (इंस्टिंक्ट्स) से सम्बन्धित हैं । ये प्रवृत्तियां संसार के प्रत्येक मानव-समाज में पाई जाती हैं । अब प्रत्येक सभ्य समाज इन प्रवृत्तियों को अनुशासित करने का अपने-अपने रूप में प्रयास करता है । सम्भव है कि किसी समाज में शराब, शिकार, जुआ और वेश्यावृत्ति आदि को धार्मिक मान्यता प्राप्त हो, लेकिन मूलभूत रूप में ये व्यक्तित्व-विघटक व्यसन हैं । इसीलिए चाणक्य इनके नियन्त्रण और निरसन के प्रबल पक्षधर हैं ।

मूलभूत नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त मनुष्य की मानसिक अभिवृत्तियां, रुझान और संवेदनाएं भी यदि रचनात्मक दिशा की ओर उन्मुख नहीं हैं, तो उनसे व्यक्तित्व का ह्रास होता है । आचार्य चाणक्य ऐसी मनोदशाओं और

---

1. नास्ति कार्यं व्यसनासक्तस्य।चा०सू०7।
2. व्यसनार्तो विस्मरत्यध्येयम् । चा०सू० 151
3. तद्विपरीतोऽनर्थायैव । चा०सू० 158
4. अग्नावग्निं न निक्षिपेत् ।चा०सू०410
5. आत्मानमेव नाशयति अनात्मवतां कोपः/चा०सू०148
6. न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् । चा०सू० 74
7. नास्ति कार्यं द्यूतासक्तस्य । चा०सू० 71

मानसिक प्रवृत्तियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं । यहाँ "चाणक्य सूत्राणि" के कुछ सूत्र उनके मनोवैज्ञानिक परिज्ञान के परिचय के रूप में दिए जा रहे हैं । अस्थिर मन वाले व्यक्ति के कार्य पूरे नहीं होते ।[1] जो व्यक्ति गम्भीर नहीं होता, उसके विद्वान होने पर भी लोग उसे प्रतिष्ठा नहीं देते ।[2] दीन बन जाने से मर जाना उत्तम है ।[3] आशावान व्यक्ति सदा श्रीहीन रहते हैं ।[4] छिपाकर किए पापों की साक्षिता भौतिक परिस्थिति में संलग्न रहती है ।[5] अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करनी चाहिए ।[6] अकारण ही दूसरों की गुप्त बातें जानने का आग्रह नहीं करना चाहिए ।[7] असभ्य भाषा न सीखे ।[8] अश्लील परिहास असभ्यता, अपमान तथा नीतिहीनता का परिचायक है ।[9] दूसरे के धन पर लालच की दृष्टि रखना भी मनुष्य के सामाजिक बन्धन के सर्वनाश का कारण होता है ।[10] अपने हितैषियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।[11] सामर्थ्य से अधिक भार व्यक्ति को थकाकर उसके कार्य को निष्फल कर देता है ।[12] कर्तव्यों को समय पर न करके उनको टालते रहने से अनेक विघ्न आ जाते हैं, कार्यों को टालना विघ्नों को निमन्त्रण देना है ।[13] सभा में आत्मांगिक रूप से व्यक्तिगत शत्रु की दोषालोचना करने वाला स्वयं को अपराधी घोषित करता है।[14]

---

1. न चलचित्तस्य कार्यावाप्तिः/चा०सू० 103
2. आत्मानं श्रुतवन्तमपि न बहुमन्यते लोकः/चा०सू०145
3. दैन्यान्मरणं श्रेयस्करम् ।चा०सू० 506
4. न चाशापरैः श्रीः सह तिष्ठति । चा०सू० 504
5. प्रच्छन्नपापानां साक्षिणो महाभूतानि/चा०सू०552
6. आत्मा न श्लाघितव्यः/चा०सू०509
7. परस्वस्यं नैवाक्षेतव्यम् ।चा०सू०244
8. न नर्ममरीहासः कर्तव्यः/चा०सू०321
9. न म्लेच्छ भाषां न शिक्षेत । चा०सू०303
10. परविभवेष्वादरो पि विनाशमूलम् । चा०सू० 267
11. स्वजनेष्वतिक्रमो न कर्तव्यः/चा०सू०246
12. अतिभारः पुरुषमवसादयति/चा०सू०146
13. नास्त्यनन्तरायः कालक्षेपे । चा०सू० 152

उपर्युक्त विवरण में अनेक अनुभव-जन्य और शाश्वत नियमों की ओर निर्देश किया गया है, जिनके प्रति सावधान रहने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में त्रुटियाँ नहीं आयेंगी । वह अपने जीवन लक्ष्य की ओर शान्त और स्थिर होकर अग्रसर हो सकेगा तथा समाज के लिए एक उपयोगी व्यक्ति प्रमाणित होगा । चाणक्य के सामाजिक दर्शन में व्यक्ति के निर्माण और परिष्कार की ओर विशेष संकेत हैं । उनकी कामना है कि यदि किसी समाज में अधिकतम व्यक्ति संतुलित और संतुलित व्यक्तित्व के हैं तो वह निश्चित ही एक उन्नतशील समाज होगा । चाणक्य-चिन्तन की एक विशेषता है कि वह व्यक्तित्व के सन्दर्भ में यथार्थवादी और व्यावहारिक चिन्तन प्रस्तुत करते हैं । व्यक्तित्व के निर्माण के लिए जिन तत्वों की ओर निर्देश करते हैं, वे कोरे नैतिकतावादी नहीं है, अपितु सामाजिक पृष्ठ-भूमि और संरचना को दृष्टि में रखकर प्रस्तावित किए गए हैं ।

7. व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध तथा "चाणक्य सूत्राणि"

पाश्चात्य समाज शास्त्रियों का यह मत है कि व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में सर्वाधिक योगदान सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश का होता है । व्यक्तित्व का अधिकांश भाग सीखा हुआ होता है । शिशु व्यक्ति अपने परिवार, समुदाय और समाज से सीखता है । इस सम्बन्ध में आधुनिक विचारकों में पिटरिम सोरोकिन, टालकट पारसन्स, रॉल्फलिंटन, जार्ज मीड, चार्ल्स कूले, इमाइल दुरखीम, फ्रायड, मार्क्स आदि ने महत्वपूर्ण योगदान किया है ।

---

1. [illegible]

चाणक्य का व्यक्तित्व सम्बन्धी चिन्तन उतना विस्तृत क्रमबद्ध और प्रबन्धात्मक नहीं है, लेकिन यदि सूक्ष्म रूप से चाणक्य के व्यक्तित्व सम्बन्धी चिन्तन का विश्लेषण किया जाए तो उसमें बीज रूप में अनेक चिन्तकों के विचार और सिद्धांत प्राप्त हो जाएंगे । उदाहरण के लिए, वंशानुक्रमण-सिद्धान्त, पर्यावरण-सिद्धान्त, आचरण सम्बन्धी सिद्धान्त, मूल्यों का सिद्धान्त, धार्मिक चेतना का सिद्धान्त आदि का समाहार चाणक्य के चिन्तन में होता है । चाणक्य कार्ल मार्क्स की तरह केवल अर्थ को, सोरोकिन की तरह परार्थवादी मूल्यों को, फ्रायड की तरह केवल काम को, दुर्खीम की तरह केवल धर्म को, पारसन्स की तरह केवल सांस्कृतिक परिवेश को व्यक्तित्व निर्माण का कारक नहीं मानते ।[1] बल्कि वह एक समन्वय वादी विचार धारा को लेकर अग्रसर होते हैं, इसमें धर्म, अर्थ, काम, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक मूल्य, सबके योगदान का महत्व स्वीकार करते हैं । इस विषय का स्पष्टीकरण अगली अध्यायों में विवेचित चाणक्य के अन्य विचारों के अनुशीलन से अधिक हो सकेगा ।

---

1. देखिए, टी०पारसन्स, थ्योरीज ऑफ सोसाइटी

अध्याय-5

"चाणक्य सूत्राणि" का परिवार-दर्शन

परिवार एक सार्वभौम संस्था है । इसका अस्तित्व मनुष्यों में ही नहीं पशु-पक्षियों में भी पाया जाता है । यद्यपि यह अनुमान ही है, लेकिन, निश्चय के समान ही कहा जा सकता है कि परिवार का आरम्भ मानव उत्पत्ति के साथ हुआ । सम्भवतः मनुष्य ने अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विवश होकर इस संस्था का निर्माण किया । देश और काल के परिवर्तन के साथ इसके संगठन और कार्यों में संशोधन और परिवर्तन करने का प्रयास किया गया। भारत और विदेश में इसके विभिन्न पक्षों पर प्राचीन काल से गम्भीर चिन्तन होता रहा है । पाश्चात्य विचारकों ने यह परिभाषित करने का प्रयास किया है कि परिवार क्या है ?

बर्गेस और लाक के अनुसार --" परिवार एक छोटा सा सामाजिक वर्ग है, सामान्यतः माता-पिता और बच्चे या अधिक बच्चों द्वारा संगठित होता है, जिसमें प्रेम और उत्तरदायित्व का न्यायोचित विभाजन होता है और बच्चों को आत्म-नियन्त्रित एवं सामाजिक प्रेरणा प्राप्त व्यक्ति बनने की शिक्षा प्रदान की जाती है ।"[1]

आर०एम०मैकाइवर कहते हैं,-" परिवार उस समूह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध पर्याप्त निश्चित होता है । इनका साथ इतने समय तक होता है जिससे सन्तान उत्पन्न हो जाए और उसका पालन पोषण भी हो जाए ।[2] आगबर्न और निमकाफ का मत है --" परिवार न्यूनाधिक रूप से स्त्री और पुरुष से मिलकर बना हुआ एक समुदाय है, जिसमें बच्चे हों, या न हों, अथवा एक पुरुष और बच्चे हों, या एक स्त्री और बच्चे हों । "[3]

---

1. बर्गेस और पार्क, इन्ट्रोडक्शन टु दि साइन्स ऑफ सोसायटी, पृ0312
2. आर०एम०मैकाइवर, सोसाइटी, पृ० 238
3. आगबर्न और निमकाफ, हैन्ड बुक ऑफ सोशियोलाजी,

भारत की परिवार की संकल्पना पश्चिमी देशों से भिन्न है । यहाँ परिवार एक धार्मिक, आध्यात्मिक संस्था के रूप में माना जाता है । महान भारतीय विद्वान डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है, "भारतीय धर्म-दर्शन, आर्थिक जीवन, वर्ण और आश्रम और इसी प्रकार के अन्य कितने ही तत्व हमारे सामाजिक इतिहास में महत्वपूर्ण प्रयोग कहे जा सकते हैं, पर इन सबमें उत्तम, हुंकारी एवं महत्वपूर्ण संस्था भारतीय परिवार हैं । यह अपूर्व ज्योति इस देश में प्रकट हुई । इस आलोक से पूर्व युगों के मनुष्यों को जीवन का मार्ग-दर्शन मिला । आज भी उसकी भास्वर ज्योति हमारे लिए अत्यन्त प्रिय है ।"[1]

"शतपथ ब्राह्मण" भारतीय परिवार को परिपूर्णता का साधन मानता है, उसके अनुसार--"पत्नी निश्चय ही पति का आधा अंश है, अतः जब तक पुरुष पत्नी नहीं प्राप्त करता, सन्तान नहीं उत्पन्न करता, तब तक वह पूर्ण नहीं होता । किन्तु जब वह पत्नी उपलब्ध करता है, संतति प्राप्त करता है तो वह पूर्ण बन जाता है ।"[2] ऋग्वेद परिवार को सन्तान द्वारा अमृतत्व प्राप्त करने का माध्यम मानता है ।[3] इस प्रकार हम सरलता से परिवार की पश्चिमी और भारतीय संकल्पना का मूल-भूत अन्तर ~~सरलता~~ से परिलक्षित कर सकते हैं । भारतीय परिवार का उद्देश्य अधिक उदार और महान है । यह स्वार्थ और वासना के मूल्यों पर आधारित नहीं है ।

---

1. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, हिन्दू परिवार मीमांसा, भूमिका भाग।
2. शतपथ ब्राह्मण, 5/2/1/10
3. ऋग्वेद 5/4/10

I- चाणक्य-पूर्व परिवार-दर्शन

परिवार और विवाह संस्था का विकास वैदिक काल में हो चुका था । जर्मन विद्वान मैयर का कथन है कि प्राचीन आर्यों के फैलने के पूर्व ही सुव्यस्थित परिवार का गठन हो चुका था । वेदों में हमें काम-, स्वच्छन्दता का कोई उदाहरण नहीं मिलता। पूर्व वैदिक युग में संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी। पति-पत्नी तथा घर के अन्य लोग साथ रहते थे । इस सम्बन्ध में वेदों में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं । इस युग में पिता को बहुत अधिकार प्राप्त होते थे । वही परिवार का प्रधान होता था । परिवार की सम्पत्ति पर उसका एकाधिकार होता था ।

उत्तर वैदिक युग में संयुक्त परिवारों का विघटन प्रारम्भ हो गया तथा पिता के अधिकार शनैःशनैः कम होने लगे । पुत्र परिवार की सम्पत्ति में अधिकार की माँग पृथक रूप से करने लगे और उनकी माँगों को स्वीकार किया जाने लगा । परिवार के प्रधान के एकाधिपत्य का अन्त हो गया ।

विकास की तीसरी अवस्था में संयुक्त परिवार को विघटित करने वाली परिस्थितियाँ अधिक सक्रिय हुईं । पिता के एकाधिकार में कमी हो गई । उसके जीवन काल में ही सम्पत्ति का बंटवारा होने लगा । बंटवारे में उसकी प्रधानता को भी कम कर दिया गया । स्वार्जित सम्पत्ति पर कमाने वाले का अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया ।[1]

---

1. श्री शम्भू रत्न त्रिपाठी, भारतीय संस्कृति और समाज, पृ० 245

चाणक्य के पूर्व विवाह को एक धार्मिक संस्कार के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी । हिन्दू-विवाह का उद्देश्य धर्माचरण करना और पुत्र प्राप्त करना है । परिवार और विवाह को एक आश्रम के रूप में स्वीकार किया गया , जिसका उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करना था । चाणक्य-पूर्व संयुक्त परिवार प्रणाली विकसित हो चुकी थी । परिवार में स्त्रियों का स्थान सम्मान पूर्ण था । इस समय तक परिवार को अनेक शास्त्रीय नियमों से परिसीमित कर दिया गया था । अनेक प्रकार के संस्कार कर्मकाण्ड और विधि-विधान परिवार-व्यवस्था से जुड़ गए थे । आचार्य चाणक्य ने इस प्रकार के शास्त्रीय नियमों और लोकप्रचलित परम्पराओं के आधार पर परिवार का एक संशोधित दर्शन प्रस्तुत करने का प्रयास किया । बाह्य रूप में यह परम्परागत संरचना थी, लेकिन सूक्ष्म रूप से इसे अधिक सुसंगठित और सुव्यवस्थित करने के लिए अपेक्षित परिवर्तन भी किए गए ।

2. चाणक्य-काल में परिवार-संगठन

आचार्य चाणक्य अनेक दृष्टियों से परिवार के महत्त्व को पूर्ण-रूप से स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार परिवार सभी व्यक्तियों के लिए ज्ञान प्राप्त करने की एक पाठशाला है । वह कहते हैं कि कब सोना, कब जागना तथा कब चलना, कब जाना उचित है । ये बातें अनुभवी कुलवृद्धों से सीखें ।[1] उन्होंने राजा, मंत्री और अन्य अधिकारियों की नियुक्ति के अनेक योग्यताओं में परिवार की सदस्यता को प्राथमिक स्थान दिया है ।[2] चाणक्य के काल में समाज में एकक और संयुक्त दोनों प्रकार के परिवार थे । इस सम्बन्ध में "अर्थ-शास्त्र" में सम्पत्ति के बंटवारे के सम्बन्ध में जो नियम दिए गए हैं, संयुक्त परिवार में चार

---

1. तद्विद्वद्भिः परीक्षेत । चा० सू० 466
2. जनपदो- - - - - । पुरोहित मुदितो- - - - । कौ० अ० 4/8/1-5

पीढ़ियों तक के लोग रहते थे और सब सम्पत्ति के समान अधिकार होते थे।[1] एक परिवार भी कभी-कभी बहुत बड़े होते थे, क्योंकि बहु पत्नी प्रथा (थी।इस) के लिए "अर्थशास्त्र" में चाणक्य कहते हैं कि यदि किसी ब्राम्हण की चारों वर्णों की पत्नियां हों, तो ब्राम्हणी से पैदा हुए पुत्र को चार भाग, क्षत्रिया के पुत्र को तीन भाग, वैश्य पत्नी के पुत्र को दो भाग और शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को एक भाग मिलना चाहिए।[2]

~~[illegible]~~

1. पितृव्या ——— विभजेरन् । कौ0अ061/5/2
2. चातुर्वर्ण्यपुत्राणां ——— शूद्रा पुत्रः/ 162/6/5
   कौ0अ

चाणक्य के पारिवारिक चिन्तन में परिवार के संगठन को सुदृढ़ करने के लिए तथा उसे कार्यक्षम बनाने के लिए परिवार के विभिन्न सदस्यों के अधिकारों और कर्तव्यों का सम्यक् विभाजन किया गया है । उन्होंने पति-पत्नी, सन्तानों आदि की कार्यशीलता आचार निष्ठा और कर्तव्यपरायणता पर "चाणक्य सूत्राणि" में अनेक स्थलों पर निर्देश दिए हैं । बालक जैसे माता-पिता के घर जन्म लेता है, निश्चय ही उसमें उन्हीं के गुण-अवगुण आते हैं ।[1] आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र भी इस तत्व को स्वीकार करते हैं कि परिवार का प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में विशेष रूप से पड़ता है । वह जन्म से ही अज्ञात और अचेतन रूप से माता-पिता के संस्कारों विचारों आदतों आदि का अनुकरण करने लगता है अथवा न्यूनाधिक रूप से प्रभावित होने लगता है। सामान्य रूप से एक अच्छे परिवार में पांच विशेषताएं होती हैं - पहला संतान उत्पादन, दूसरा बच्चों की शारीरिक देख-रेख, तीसरे औपचारिक -अनौपचारिक शिक्षा-दीक्षा, चौथा धार्मिक, सामाजिक और नैतिक आदर्शों का ज्ञान, पांचवां प्रेम-सद्भाव, मैत्री, आत्म-नियन्त्रण के गुणों का विकास करना आदि । जो माता-पिता परस्पर सामन्जस्य पूर्ण रीति से नहीं रहते हैं तथा जिनके घर में मतभेद कलह तथा अव्यवस्थाएं रहती हैं, वहां के बच्चों का समुचित विकास नहीं हो सकेगा । वे अपराधी और विषयगामी हो जाते हैं । आधुनिक विचारक सदर लैण्ड ने कहा है बालोत्त प्रतिशत से अधिक अपराधी कुव्यवस्थित परिवारों के होते हैं । आचार्य चाणक्य ने बच्चों के विकास और पारिवारिक सुख-समृद्धि को दृष्टि में रखते हुए माता-पिता के चरित्र पर विशेष जोर दिया है ।

---

1. यथाबीजं तथा निष्पत्तिः/ चा0सू0 458

पति-पत्नी परिवार रूपी रथ के दो पहिए हैं । आचार्य चाणक्य का मत है कि गृहस्थी के सुचारू रूप से संचालन के लिए पत्नी को पति के अनुरूप या अनुगामी होना चाहिए ।[1] यह विचार आधुनिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ लग सकता है । लेकिन उस युग की परिस्थितियों के अनुसार यह विचार उपयुक्त था, वैसे आचार्य चाणक्य पुरुष को निरंकुश अधिकार नहीं प्रदान करते हैं । उन्होंने स्त्रियों को भी अनेक अधिकार प्रदान किए हैं । वह निश्चित शब्दों में नीच, प्रवासी, राजद्रोही, घातक, जाति और धर्म से गिरे हुए पति से विवाह-विच्छेद करने का स्त्री को अधिकार प्रदान करते हैं । धन सम्बन्धी अधिकार भी स्त्रियों को प्रदान किए हैं जिन पर हम अगले पृष्ठों पर विचार करेंगे ।

चाणक्य पारिवारिक व्यवस्था में माता को सर्वोपरि स्थान प्रदान करते हैं । हमारी भारतीय परम्परा में माता परमपूज्य मानी गई है । "चाणक्य सूत्राणि" में कहते हैं कि सभी गुरुओं में माँ का सर्वोच्च स्थान है ।[2] प्रत्येक अवस्था में माता का भरण पोषण करना सन्तान का कर्तव्य है ।[3] इसमें प्रथम सूत्र विशेष विचारणीय है । संसार में दो तरह के गुरु होते हैं, शिक्षा गुरु तथा आध्यात्मिक गुरु। माता भी एक गुरु होती है जो बच्चों को शैशवावस्था से युवा होने तक अनेक विद्याओं का ज्ञान कराती है, केवल ज्ञान ही नहीं कराती है बल्कि उसके शारीरिक और मानसिक विकास में पूर्ण मनोयोग से योगदान करती है । आचार्य चाणक्य ऐसी माँ को सर्वोच्च सम्मान देते हैं तथा मातृशक्ति की प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। इसीलिए वह दूसरे सूत्र में कहते हैं कि माँ शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि दृष्टि से किसी भी अवस्था में हो परन्तु उसका भरण-पोषण, सुरक्षा-सम्मान होना चाहिए । यह व्यवस्था एक ओर व्यक्ति में कृतज्ञता और सेवा की भावना का विकास करती है

---

1. भर्तुव्यवर्तिनी भार्या/चा०सू०336
2. सर्वावस्थासु माता मान्या/चा०सू०363

वहीं दूसरी ओर यह समाज-कल्याण के एक बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष वृद्ध-सेवा की आधुनिक संकल्पना की परिपुष्टि करती है । इस विचार का महत्व पश्चिमी समाज के अवलोकन से ज्ञात हो सकता है । पश्चिम में विवाह के उपरान्त लड़के अपनी पत्नी के साथ घर से अलग हो जाते हैं । वृद्ध-रोगी, माता-पिता अस्पतालों या अनाथालयों जैसी संस्थाओं में जीवन-यापन करने के लिए विवश होते हैं ।

"पुत्र को पिता की इच्छा का अनुगामी होना चाहिए,"[1] ऐसा चाणक्य सूत्र में कहा है । आचार्य चाणक्य परिवार में केवल माता का ही विशिष्ट स्थान नहीं निर्धारित करते हैं, बल्कि पिता की स्थिति को भी निर्धारित करते हैं । पारिवारिक जीवन और सन्तानों के विकास की दृष्टि से पुत्रों को पिता के निर्देश और अनुशासन को पालन करना चाहिए । लेकिन आचार्य आगे कहते हैं कि पुत्र वह है, जो माता-पिता की दुर्गति से रक्षा करता है ।[2] माता-पिता किसी विषम परिस्थिति में है, तो पुत्र उनका उद्धार करे तथा उनको इस संकट से मुक्त करे ।

आचार्य चाणक्य जब पुत्र के अनेक दायित्व निर्धारित करते हैं, तो माता-पिता को भी कर्तव्य का बोध कराते हैं । वह कहते हैं कि पुत्रों को विद्याओं का पारंगत बनाना चाहिए ।[3] चाणक्य को मूर्खता सह्य नहीं है । उनके अनुसार गुणी पुत्र का पिता होना ही पुत्रवान होना है, निर्गुण पुत्र होना पिता की तो अकीर्त्यता है, साथ ही पुत्र की हीनता भी है ।[4]

---

1. पितुर्वशानुवर्ती पुत्रः/ चा०सू० 338
2. दुर्गतेः पितरौ रक्षति स पुत्रः/चा०सू० 386
3. पुत्रा विद्यानां पारं गमयितव्याः/चा०सू०382
4. अतिलाभःपुत्र लाभः/चा०सू०385

राज पुत्रों के सम्बन्ध में पुत्रों की तीन श्रेणियां "अर्थशास्त्र" में चाणक्य ने बतायी हैं ।

1- बुद्धिमान, 2- आहार्य बुद्धि और, 3- दुर्बुद्धि। जो धर्म और अर्थ विषयक उपदेश को उचित रूप से ग्रहण करके तदनुसार आचरण करता है, वह बुद्धिमान है । जो धर्म और अर्थ को तो समझ लेता है, परन्तु तदनुसार अपना आचरण नहीं बना पाता है , उसे आहार्य बुद्धि कहते हैं । जो बुराइयों में लीन धर्म और अर्थ से द्वेष रखता है, वह दुर्बुद्धि है ।[1] आचार्य चाणक्य दुर्बुद्धि पुत्र को पैत्रिक अधिकार देने के विरोधी हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य चाणक्य पारिवारिक संगठन के परिवार के विभिन्न प्रकार के सदस्यों के कार्य-क्षेत्रों और दायित्वों का परिसीमन करके परिवार को एक संश्लिष्ट इकाई का रूप देते हैं ।

चाणक्य व्यावहारिक चिन्तक थे । उन्होंने परिवार के संगठन में सदस्यों के आर्थिक हितों की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा है । पैत्रिक सम्पत्ति के बंटवारे तथा उत्तराधिकार के नियमों का विस्तृत विवरण दिया है । उनके अनुसार पारिवारिक बंटवारा स्थानीय रीति-रिवाजों के अनुसार होना चाहिए । यदि किसी व्यक्ति ने स्वयं या अपनी योग्यता से धन का अर्जन किया है, तो उसका बंटवारा नहीं होगा । सामान्य रूप से पिता के जीवनकाल में बंटवारा नहीं होता था, लेकिन यदि किसी कारण ऐसा हो, तो एक पिता के विभिन्न पुत्रों में कोई भेद-भाव नहीं होना चाहिए । कोई पुत्र बिना किसी अनुचित कारण के उत्तराधिकार से वंचित नहीं किया जाए । यदि किसी उत्तराधिकारी के अवयस्क होने की स्थिति में बंटवारा होता है, तो उसे पारिवारिक ऋणों के भुगतान में कोई जिम्मेदारी नहीं होगी ।

---

1. बुद्धिमान ———— येति-दुर्बुद्धिः कौ0अ0 12/16/2

यदि कभी बंटवारा अनुचित होता है, तो उस पर पुनर्विचार किया जा सकता है । यदि किसी व्यक्ति के कोई उत्तराधिकारी नहीं है, तो वह राज्य की सम्पत्ति हो जाएगी । अचल सम्पत्तियों के लिए चाणक्य ने बड़े विस्तृतनियम बनाए हैं, इनके अन्तर्गत घर, खेत, बगीचे, अन्य भवन, झील और तालाब आते हैं । इन वस्तुओं की बिक्री के समय आस-पास के भद्र परिवारों के चालीस लोग एकत्र होने चाहिए । ऐसी वस्तुओं की बिक्री में पहले अधिकार रक्त सम्बन्धियों, या पड़ोसी को खरीदने में प्राथमिकता दी गई है ।

चाणक्य के समय में इस तत्व को स्वीकार कर लिया गया था कि स्त्री-पुरुष काम वासना के वश धर्म-विवाह की सीमा से बाहर भी काम सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और उनसे भी सन्तानें उत्पन्न हो सकती हैं । चाणक्य ने उन्हें अनाथ नहीं होने दिया । उन्हें भी सम्पत्ति के सम्बन्ध में अधिकार दिया । ऐसे पुत्रों का विवरण अर्थशास्त्र में निम्नांकित रूप में किया गया है, " विधि पूर्वक विवाहित स्त्री से पति द्वारा पैदा हुआ पुत्र औरस कहलाता है । समगोत्र अथवा भिन्नगोत्र स्त्री से उसके पति द्वारा पैदा किया पुत्र क्षेत्रज कहलाता है । अविवाहित कन्या के गर्भ से जो बच्चा पैदा हो, उसे कानीन कहते हैं । विवाह-पूर्व गर्भवती का विवाह के बाद जो बच्चा पैदा हो, उसे सहोढ़ कहते हैं । पुनर्विवाह स्त्री से बच्चा पैदा हो उसे पौनर्भव कहते हैं । "

"पिता या बन्धुओं से स्वयं उत्पन्न किया हुआ बच्चा उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है । जो पुत्र गूढज के समान पैदा हुआ हो, वह केवल पालन-पोषण करने वालों की सम्पत्ति का अधिकारी

होता है । जो बालक माता-पिता द्वारा हाथ में जल लेकर किसी दूसरे को दे दिया जाए, वह दत्त कहलाता है तथा वह पालने वाले की सम्पत्ति का अधिकारी होता है । जो स्वयं बन्धुओं द्वारा पुत्र भाव से प्राप्त हुआ हो, वह उपगत कहलाता है । जो पुत्र भाव से स्वीकार किया जाए, वह कृतक कहलाता है । असवर्ण स्त्रियों से उत्पन्न पुत्र केवल भोजन-वस्त्र के अधिकारी हैं । ब्राह्मण से वैश्य स्त्री में उत्पन्न पुत्र अनार्य समझे जाते हैं, ऐसा पुत्र अम्बष्ठ कहलाता है । ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र निषाद या पारशव कहलाता है । क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र उग्र कहलाता है । वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न शूद्र ही कहलाएगा । शूद्र द्वारा वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र क्रमशः आयोगव क्षत्ता और चाण्डाल कहलाते हैं । वैश्य द्वारा ब्राह्मणी और क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र क्रमशः भाण्ड और वैदेहक कहलाते हैं । क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी पुत्र सूत कहाता है । क्षत्रिय शूद्रा से उत्पन्न उग्र पुरुष द्वारा निषाद जाति की स्त्री में उत्पन्न बालक कुक्कुट कहलाता है । उक्त संकर वर्णों का विवाह अपनी ही जाति में होता है । इन सभी संकर जातियों में जायदाद का बराबर हिस्सा होना चाहिए ।"[1]

चाणक्य ने उपर्युक्त प्रकार के पुत्रों का वर्णन और उनकी व्याख्या करके तथा उनके अधिकारों का समर्थन करके समाज की और परिवार की एक जटिल समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है ।

3- विवाह का रूप

परिवार और विवाह संयुक्त संस्थायें हैं । जब हम परिवार

जब हम परिवार की कल्पना करते है तो स्वतः विवाह की अवधारणा समझ आ जाती है. क्योंकि विवाह के बिना परिवार का गठन सम्भव नहीं होता है । आचार्य चाणक्य के जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ अब तक ज्ञात है, उससे प्रतीत होता है कि वह अविवाहित थे और पूर्ण जितेन्द्रिय थे । सम्भवतः इसी कारण से वह विवाह संस्था को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे । लेकिन सामाजिक विवशता के कारण इसे स्वीकार करते थे ।इसी-लिए चाणक्य सूत्राणि में वह कहते है कि पत्नी पति के लिए लोहे की बेड़ी है ।[2] यद्यपि इस प्रकार के विचार आज के युग में भी व्यक्त किए गए है, लेकिन चाणक्य और इन विचारकों में मूलभूत अन्तर है । चाणक्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार स्वीकार करते है । विवाह से मनुष्य बहुत अधिक शक्ति और समय नष्ट हो जाता है । यह स्थिति एक विवशता की होती है । व्यक्ति न चाहते हुए भी इस बन्धन को स्वीकार करता है । पश्चिम के लोग जब विवाह को बन्धन मानते है तो वे विवाह के सुखों को प्राप्त करना चाहते है, लेकिन उसे उत्तरदायित्वों को ग्रहण करना नहीं चाहते है । एक प्रकार से वे काम - स्वच्छन्दता की स्थिति के समर्थक है । चाणक्य महान उद्देश्य के लिए इसके प्रति अनास्था का भाव रखते है।

---

1. अलोहमयं निगडं कलत्रम । चा० सू० 356

चाणक्य इस तथ्य से अवगत थे कि जिन महान और उच्च आदर्शों के अनुसार वे जीवनयापन कर रहे हैं, उनके लिए बहुत बड़ी शक्ति साहस और संयम की आवश्यकता होती है । सर्वसाधारण के लिए यह सम्भव नहीं है । फिर समाज सृष्टि चलती रहे, समाज के कार्य भी ठीक प्रकार चलते रहें, इसके लिए सन्तान उत्पादन नितान्त अनिवार्य है । "चाणक्यसूत्राणि" में आचार्य कहते हैं, "पत्नियां भोगार्थ न होकर पुत्र प्राप्ति के लिए है ।"[1] अतः वह विवाह की संस्था को स्वीकार करते हैं । प्लेटो ने पूर्ण रूप से विवाह-संस्था के उच्छेदन की बात कही थी । लेकिन चाणक्य विवाह संस्था को अनेक कारणों से स्वीकार करते हैं । उन्होंने इस सम्बन्ध में समाज से सम्झौता-सा किया है और विवाह के प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों रूपों को वैधानिक मान्यता प्रदान की है । यद्यपि वह कठोर अनुशासक हैं, लेकिन वे विवाह के आठ प्रकारों को मान्यता देते हैं । इन विवाह के रूपों का "चाणक्य सूत्राणि" में विवेचन नहीं है, लेकिन "अर्थशास्त्र" में इसका वर्णन है -1- "वस्त्राभूषण से सजाकर विधिपूर्वक कन्यादान करना ब्राह्म विवाह कहलाता है । 2- कन्या और वर, दोनों सहधर्म पालन की प्रतिज्ञा कर जिस विवाह बन्धन को स्वीकार करते हैं, उसे प्राजापत्य विवाह कहते हैं । 3- वर से गऊ का जोड़ा लेकर जो विवाह किया जाता है, उसे आर्ष विवाह कहते हैं । 4- विवाह वेदी में बैठकर ऋत्विज को जो कन्यादान दिया जाता है, उसे दैव-विवाह कहते हैं । 5- कन्या और वर का आपसी सलाह से किया गया विवाह गान्धर्व विवाह कहलाता है । 6- कन्या के पिता को धन देकर जो विवाह किया जाता है, उसे आसुर विवाह कहते हैं । 7- किसी कन्या से बलात्कार करके विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता है । 8- सोई हुई कन्या का हरण करके विवाह करना पैशाच विवाह कहलाता है ।"[2]

---

1. पुत्रार्था हि स्त्रियः /चा0सू0393
2. कन्यादानं ——— पैशाचः/को0अ058/2/1-8

पिछले पृष्ठों में हम पुत्रों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कर चुके हैं, उससे स्पष्ट होता है कि चाणक्य के युग में अन्तर्जातीय विवाह मान्य थे, लेकिन कुछ सीमाओं के साथ । ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को समाज में सम्मानीय स्थान नहीं प्राप्त था । उन्हें विशेष परिस्थिति प्रदान की गई थी । जैसे शूद्र और ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र चाण्डाल कहलाता था । ऐसी सन्तानों को एक सामूहिक नाम वर्ण संकर दे दिया गया था ।

पुरुषों को एक से अधिक विवाह करने का अधिकार था । स्त्रियों को विशेष स्थितियों में पुनर्विवाह का अधिकार चाणक्य ने प्रदान किया । इतना ही नहीं, विधवा-विवाह की भी अनुमति दी । इस विषय में वि-ख्यात विधिवेत्ता यू०सी०सरकार का मत है कि चाणक्य स्त्री और पुरुषों को समान स्तर प्रदान करते हैं।[1] इस सम्बन्ध में हम अगले पृष्ठों में विशेष विस्तार से विचार करेंगे । चाणक्य ने नियोग की प्रथा को भी मान्यता दी/किन्तु है । इस दृष्टि से हम देखते हैं कि चाणक्य अपने विवाह सम्बन्धी चिन्तन में पर्याप्त प्रगतिशील उदार और व्यावहारिक प्रतीत होते हैं ।

4. पारिवारिक आचार-विचार

आचार्य चाणक्य वैदिक धर्म में विश्वास करते हैं । उनका कथन है कि वेद से बाहर कोई धर्म नहीं है ।[2] वैदिक धर्म में वर्ण धर्म और आश्रम धर्म भी आते हैं । आश्रम का स्पष्ट वर्णन अर्थशास्त्र में किया गया है । सामान्य रूप से विभिन्न शास्त्रों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के क्रम में आश्रमों का वर्णन मिलता है । लेकिन आचार्य चाणक्य पहला स्थान गृहस्थ आश्रम को देते हैं, इसके उपरान्त ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास का वर्णन करते हैं । यह तथ्य इसका द्योतक है कि सांसारिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए गृहस्थ-आश्रम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है । चाणक्य से पूर्व वेदों, सूत्रों, आदि में गृहस्थ-आश्रम के आचार-विचारों का,

---

1. यू०सी०सरकार, इण्डोलाजी इन हिन्दू लीगल हिस्ट्री, पृ०86

कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन किया जा चुका था । इसलिए चाणक्य ने इनका अपने ग्रन्थों में विस्तृत विवरण नहीं प्रस्तुत किया । फिर भी वह उन मूलभूत विचारों की ओर संकेत करते हैं, जिनके अनुसरण से परिवार अपने उद्देश्यों की पूर्ति में अधिक सक्षम हो सके । वह कहते हैं कि गृहस्थ अपनी परम्परा के अनुकूल कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करे, सगोत्र तथा असगोत्र समाज में विवाह करे, अनुगामी हो, देव, पितर और भृत्यजनों को देकर सबसे अन्त में भोजन करे ।[1] गृहस्थ का पहला कर्तव्य अपनी परम्परा का पालन करते हुए अर्थोपार्जन करना है । यहाँ परम्परा का आशय यह है कि जो व्यक्ति जिस वर्ण या जाति का हो, उसके निर्धारित व्यवसाय को करते हुए धन अर्जित करे । धनार्जन के सम्बन्ध में आचार्य गृहस्थ को निर्देश देते हैं कि दरिद्र व्यक्ति मृतक के समान होता है ।[2] और सम्पन्न व्यक्ति सार्वजनिक सम्मान का पात्र होता है ।[3] अर्थहीन व्यक्ति का भी संसार सम्मान नहीं करता है ।[4] वह सांसारिक यथार्थ को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सौन्दर्य हीन व्यक्ति भी अर्थवान होने पर सुन्दर प्रतीत होने लगता है ।[5] वस्तुतः गृहस्थ जीवन में आर्थिक दृष्टि से अनेक उत्तरदायित्व होते हैं । व्यक्ति को अपनी पत्नी, बच्चों और अन्य आश्रित सम्बन्धियों का भरण-पोषण करना पड़ता है । इसके अतिरिक्त गृहस्थ से यह आशा की जाती है कि वह अन्य आश्रमों के व्यक्तियों की भी सहायता करेगा तथा जो दीन-हीन और दुःखी हैं, उनकी अन्न-वस्त्र, आदि से सेवा करेगा । अतः यदि गृहस्थ के पास धन नहीं है, तो वह अपने परिवार और समाज का हित नहीं कर सकेगा । चाणक्य गृहस्थ को धन की महत्ता बताते हैं । लेकिन इसका आशय यह नहीं कि गृहस्थ अर्थ कीट हो जाए । उसके जीवन का लक्ष्य किसी प्रकार से धन

---

1. गृहस्थस्य . . . . तेन भोजनं च/कौ0अ0 1/2/4
2. दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम्/चा0नी0 257
3. अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः/ चा0नी0 255
4. महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहु मन्यते लोकः/चा0नी0 256
5. विरूपोऽर्थवान् सुरूपः/चा0नी0 258

उपार्जित करना ही हो जाए । इसीलिए वह कहते हैं कि वर्ण-धर्म का पालन करते हुए धनोपार्जन करना चाहिए । आगे वह अधिक धन की निन्दा भी करते हैं । वह कहते हैं, "अत्यधिक धन वैशाचिकता से रहित नहीं होता है ।[1] तथा जो केवल धन का उपासक हो जाता है वह सत्कार्यों से विमुख हो जाता है"।[2] गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अपने सत्कर्मों से उपार्जित धन का एक अंश नियमित रूप से दान करता रहे । वह कहते हैं कि योग्य पात्र को दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता ।[3] वह कहते हैं कि दान देने में व्यक्ति को पात्र और कुपात्र का निर्णय अवश्य करना चाहिए यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है । दान उसे दे जो कोई सत्कार्य कर रहा है या जिसे आवश्यकता है । जो आलसी और अकर्मण्य हैं, उन्हें दान देने से समाज में अव्यवस्था फैलती है और कर्म की गरिमा क्षीण होती है । इसीलिए आचार्य दान में सुपात्रता का निर्देश करते हैं । चाणक्य के अनुसार दान नित्य करना चाहिए । समाज में अगणित लोग निराश्रित और साधनहीन हैं । उनकी नित्य की आवश्यकताएँ भी हैं । नित्यदान ऐसे निर्बल लोगों की सहायता करता है ।[4] अपने उपार्जित धन पर उचित अधिकार रखने वालों को उनका भाग सदा देता रहे ।[4] "माँगने वाले अर्थात् याचक का अपमान नहीं करना चाहिए ।"[5] आचार्य ने अतिथि स्वागत को गृहस्थ का महत्वपूर्ण कर्तव्य माना है ।[6] चाणक्य कहते हैं कि अतिथि स्वागत एक सामाजिक शिष्टाचार मात्र नहीं है, बल्कि सामाजिक व्यवस्था के सुसंचालन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है यदि हम अपने घर आए व्यक्ति का यथाशक्ति स्वागत करेंगे, तो इससे

---

1. नात्त्यपिशाचमैश्वर्यम् /चा०सू० 353
2. नास्ति धनवतां सुकृतक्रमः/चा०सू०354
3. नास्ति हव्यस्य व्यापादः/ चा०सू० 515
4. नित्यं संविभागी स्यात् /चा०सू०514
5. नार्थिनवज्ञा कार्या/ चा०सू०437
6. अतिथिमभ्यागतम् पूजयेद्यथाविधि/ चा०सू० 514

सामाजिक सम्बन्धों में दृढ़ता आती है और सद्भाव में वृद्धि होती है। आए हुए व्यक्ति की भोजन-विश्राम की आवश्यकता की पूर्ति होती है। जब हम दूसरे के घर जाते हैं तो हमारे साथ भी उसी प्रकार का व्यवहार और सम्मान होता है। चाणक्य समाज-कल्याण की दृष्टि से गृहस्थों के लिए ये कर्तव्य निर्धारित करते हैं कि जो गृहस्थ अपने उपार्जन में से स्वजनों, अतिथियों, बन्धुओं, आश्रितों, दीन-दुःखियों तथा समाज-कल्याणकारी संस्थाओं का भरण-पोषण करने के पश्चात शेष धन से जीवनयापन करने वाले लोग अन्न भोजी होने पर भी अमृतभोजी होते हैं।[1] वह आगे कहते हैं कि जो अकेला खाता है वह पैशाच भोजन करता है।

आचार्य वैदिक परम्परा को स्वीकार करते थे, इसलिए केवल मनुष्यों के सत्कार की ही बात नहीं है, अपितु वह गृहस्थ को देवताओं और पितरों के प्रति भी सम्मान व्यक्त करने का निर्देश देते हैं।

चाणक्य उक्त महत्वपूर्ण निर्देशों के अतिरिक्त गृहस्थ को अनेक ऐसे निर्देश देते हैं, जिनके पालन से परिवार और समाज में सद्भाव और प्रेम की वृद्धि होगी, कलह और विरोध की वृत्तियां कम होंगी और राष्ट्र की व्यवस्था सुचारू रूप से संचालित होगी। इस क्रम में कुछ तथ्य द्रष्टव्य है :-

सदाचार का पालन करने से आयु तथा यश की वृद्धि होती है।[2] सौभाग्य शाली स्त्रियों से सम्बन्ध मत रखो।[3]

---

1. स्वजनं तर्पयित्वा यःशेषभोजी सोऽमृत भोजी/चा०सू० 136
2. आचारादायुर्यशो की त्रिच/चा०सू०430
3. न कृतार्येषु स्त्रीषु सम्बन्धः /चा०सू०434

दूसरे को मानसिक क्लेश देने वाली बात निराधार हो तो भी चिरकाल तक श्रोता के मानस पर उसका दुष्प्रभाव बना रहता है ।[1] जैसे मनुष्य श्रवण सुख से तृप्ति अनुभव करते हैं उसी प्रकार विज्ञ लोग राजाओं या बड़े बने हुए लोगों को तुष्टि मधुर तथ्यानुमोदित बातों से सन्तुष्ट रखें, अपने कार्यों में व्याघात न उत्पन्न होने दें ।[2] नींद से विद्या नहीं सीखना चाहिए ।[3] बिना उचित कारण तथा वैध अधिकार के दूसरे के घर में प्रवेश न करें ।[4] दूसरे की पत्नी से सम्बन्ध रखने की बात मन में भी न सोचे ।[5] आधीरात तक न जागे अर्थात् आधी रात के पहले सो जाए।[6] दिन में नहीं सोना चाहिए ।[7] रात्रि में भ्रमण न करें ।[8] अपना कर्तव्य टालो नहीं, अभी करो ।[9] उपयोगी बात नगण्य व्यक्ति की भी सुन लेनी चाहिए ।[10] सामाजिक नियमों के उल्लंघन करने वाले का कभी विश्वास न करो ।[11] शत्रु के मीठे दीखने वाले वार्तालाप को विषयुक्त के समान समझना चाहिए ।[12] अनुचित लाभों और बुरे व्यक्ति घनिष्ठता बढ़ाते हैं, उनसे घनिष्ठता न रखो, सावधान रहो ।[13] लालच मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट कर देता है ।[14]

---

1. अनृतमपि दुर्वचनं चिरं तिष्ठति/चा०नी०444
2. श्रुतितुष्टात्कोकिलालापात्तुष्यन्ति/चा०नी० 446
3. नीचस्य विद्यां नोपेतव्या/चा०नी० 302
4. परगृहमकारणतो न प्रविशेत् /चा०नी० 467
5. परदारान् न गच्छेत् / चा०नी० 412
6. न चार्धरात्रं स्वपेत्/ चा०नी० 465
7. न दिवा स्वप्नं कुर्यात् / चा०नी० 510
8. न रात्रिचारणं कुर्यात् /चा०नी० 464
9. अद्यः कार्यमद्य कुर्यात् /चा०नी० 539
10. बालादप्यर्थवत् वचनं गृह्णीयात् / चा०नी० 167
11. मर्यादातीतं न कदाचिदपि विश्वसेत् /चा०नी०172
12. अप्रिये कृते प्रियमपि क्लेदं जनयति /चा०नी० 173
13. पङ्क्तौ कृतापरे कृतमतिर्धीमान्/ चा०नी० 225

शेष पृ० सं० 336

प्रत्येक गृहस्थ अपने सामाजिक व्यवहार को जितना परिष्कृत और रुचिपूर्ण बनाएगा, उसका जीवन उतना ही सुखी और निरापद होगा। केवल बड़े-बड़े सिद्धान्तों और कार्यों के सम्पन्न करने से कोई पारिवारिक जीवन सम्पन्नत नहीं होता, बल्कि आचार-व्यवहार की छोटी-छोटी बातें उसे लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने में सहायता प्रदान करती हैं। महापुरुषों का जीवन इस बात का साक्षी है कि वे लोग दैनिक जीवन में छोटी-से-छोटी बात को और कार्य को गम्भीरता पूर्वक सम्पादित करते थे। इसीलिए आचार्य चाणक्य ने अनेक महत् सिद्धान्तों के साथ-साथ सामान्य और तथा कथित छोटे आचार-विचारों और शिष्टाचारों के सम्बन्ध में गृहस्थों को सावधान किया है। उनके निर्देशों में कोई ऐसा तत्व नहीं है जो व्यक्ति के बहुमुखी विकास में सहायक होता न प्रतीत हो।

5. स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियां परिवार-व्यवस्था की अपरिहार्य अंग हैं। स्त्री के अभाव में परिवार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिए आचार्य चाणक्य ने "अर्थशास्त्र" और "चाणक्यसूत्राणि" में सुचिंतित और संतुलित चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनके वाङ्मय के प्रारम्भिक अवलोकन से ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि चाणक्य स्त्री विरोधी हैं तथा कुछ वाक्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्त्रियों अन्य हितैषी हैं। उदाहरण के लिए वह कहते हैं कि सच्चरित्र स्त्रियों के समान संसार में कोई रत्न नहीं है।[1] लेकिन आचार्य यह भी कहते हैं स्त्री जाति पर तनिक भी विश्वास न करें।[2] स्त्री जाति में स्थिरता तथा लोक चरित्र का ज्ञान नहीं होता।[3]

---

1. स्त्रीषु किंचिदपि न विश्वसेत्/चा०सू० 360
3. न समाधिः स्त्रीषु लोकवृत्ता च/चा०सू० 361
3. ~~गुप्तां माता गरीयसी / चा०सू० 362~~

1. न स्त्रीरत्नसमं रत्नम्। चा० सू० 313

एक स्थान पर वह कहते हैं माता का स्थान सबसे ऊंचा है ।[1] इन कथनों में विरोधाभास-सा प्रतीत होता है । लेकिन उनके विचारों के सूक्ष्म अध्ययन से इस समस्या का समाधान सरलता से हो जाता है । आचार्य चाणक्य के युग में, चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्राट होने के पूर्व, देश की स्थिति विप्लवकारी समाज का प्रतीक बन गई थी । यूनानियों के आक्रमण ने और छोटे-छोटे निर्बल शासकों के कारण समाज विशृंखलित हो गया था । राजाओं में और उनके अनुकरण में समाज के अन्य लोगों में भौतिक सुखों के प्रयोग की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई थी। जिससे समाज की सारी मर्यादाएं छिन्न-भिन्न हो गई थीं तथा समाज में आदर्श हीनता की स्थिति आ गई थी । स्त्री-समाज का दुरुपयोग होने लगा था । इन कारणों से समाज में स्त्रियों के दो स्पष्ट वर्ग हो गए थे, एक वर्ग की स्त्रियां मर्यादाओं के अन्तर्गत रहते हुए जीवनयापन करती थीं और दूसरे वर्ग में ऐसी स्त्रियां थीं जो विदेशियों, राजाओं और भोग-विलासियों की इच्छाओं की पूर्ति का माध्यम थीं । चाणक्य ने स्त्री समाज के प्रति जो दो प्रकार के मत व्यक्त किए हैं उनके मूल में उस समय के समाज की दशा उनके समक्ष थी । जब वह नारी-समाज की प्रशंसा करते हैं, तो उनका आशय उस वर्ग से है जो धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक और सामाजिक आदर्शों की पूर्ति का संवाहक है । तथा जब वह नारी की निन्दा करते हैं, तो उनकी दृष्टि में वे स्त्रियां हैं जो वासना की प्रतीक हैं, व्यक्ति और समाज को पथगामी बनाने में सहायक हैं तथा नैतिक, धार्मिक और सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा करती हैं । आचार्य चाणक्य व्यावहारिक चिन्तक हैं, इसलिए उन्होंने समाज में प्रचलित व्यक्तियों की दुर्बलताओं और विवशताओं की उपेक्षा नहीं की है। क्योंकि वह जानते थे कि अनेक स्त्रियां स्वेच्छा से पथगामिनी नहीं होती हैं, बल्कि उनके समक्ष समाज ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देता है, जिससे उन्हें अनैतिक मार्गों पर चलना पड़ता है । आचार्य के नारी-चिन्तन में नारी की सुरक्षा और उसकी गौरव-गरिमा की वृद्धि के लिए अनेक कल्याणकारी और उपयोगी नियम प्रस्तावित किये गए हैं । इस सन्दर्भ में वह पुरुषों को भी निर्देश देते हैं कि वह परस्त्री से सम्बन्ध की बात सपने में भी न सोचे ।

अपनी दासी को भोग्या बनाकर ग्रहण करना उसी का दास होकर पतित हो जाना है ।[1] पत्नियाँ भोग के लिए नहीं अपितु सुत्र प्राप्त करने का साधन है ।[2] पत्नी पति के समस्त धार्मिक कृत्यों में सहयोगिनी बनी रहे, इसमें पति का ही नहीं दोनों का सुख है ।[3] समाज हित में अपना हित समझने वाले लोग स्त्रियों के दास न बनें ।[4] जितेन्द्रिता ही सत्य का सार है ।[5] ये तथ्य स्त्री और पुरुष दोनों के लिए हितकारी हैं । ऐसे विचारों से नारी के चरित्र की रक्षा में सहायता मिलती है । इसके अतिरिक्त चाणक्य ने अनेक ऐसी व्यवस्थाएं की हैं जिनसे नारी के हितों की रक्षा होती है ।"अर्थशास्त्र" में बलात्कार सम्बन्धी अपराधों के लिए अनेक दण्डों का विधान किया गया है इनमें आर्थिक दण्ड, पुरुष के नाक-कान काटना, प्राण दण्ड, आदि हैं ।[5] चाणक्य का मत है, "स्त्री को पति की आज्ञा बिना पर पुरुष के घर नहीं जाना चाहिए । परन्तु किसी भय के कारण जाए तो वह अदण्ड्य है । मृत्यु, बीमारी या प्रलयकाल में स्त्री सम्बन्धियों के घर जा सकती है ।"[6] कौटिल्य के पूर्व और उपरान्त अनेक धर्माचार्य स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार देने में संकुचित हुए हैं । लेकिन चाणक्य इस सम्बन्ध में उदार हैं । कहते हैं, " जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पुत्रहीन स्त्रियों के पति विदेश गए हों वे एक वर्ष तक और पुत्रवती स्त्रियाँ कुछ अधिक समय तक पति की प्रतीक्षा करें । पति भरण-पोषण का इन्तजाम कर गए हों तो दुगने समय तक प्रतीक्षा करें । जिनका इन्तजाम न हो उनके बन्धु बान्धव आठ वर्ष तक प्रबन्ध करें । इसके बाद पहले विवाह के समय दिए गए धन को वापस लेकर, दूसरी शादी की छूट दे दें ।"[7] अध्ययन के लिए विदेश गए ब्राह्मणों की सन्तानहीन पत्नियाँ

---

1. स्वदासीपरिग्रहो हि स्वदासभावः/चा०सू० 394
2. पुत्रार्था हि स्त्रियः /चा०सू० 393
3. तदनुवर्तिनमुभयलोक्यम् /चा०सू० 513
4. अशुभद्वेषिणः स्त्रीषु न प्रसक्ताः ।चा० सू० 480
5. तर्णा . . . . . शुल्कदानं च/कौ०अ087/12/1-4
6. पतिकुला . . . . . ज्ञाति कुलमनं/कौ०अ060/4/1-4-2
7. द्वादशवार्षिकं .....पुरुषेयुः/कौ०अ06/4/3

दस वर्ष तक और पुत्रवती बारह वर्ष तक पति की प्रतीक्षा करें । किसी राज कार्य से गए व्यक्ति की पत्नी आयु पर्यन्त प्रतीक्षा करें । पति के प्रवास-काल में यदि किसी समानवर्ण पुरुष से किसी स्त्री का कथा हो जाए तो निन्दनीय नहीं है ।[1] कुछ अन्य विषम स्थितियों में भी स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार दिया है, लेकिन यदि स्त्री बिना किसी उचित कारण के पुनर्विवाह करती है, तो दण्ड की अधिकारिणी मानी गई है । ऐसे निःसन्तान विधवाओं को पुनर्विवाह करने अथवा नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त करने का अधिकार भी प्रदान किया गया है ।[*] जैसा हम पिछले पृष्ठों में उल्लेख कर चुके हैं कि अनेक स्त्रियाँ समाज की विषम परिस्थितियों के कारण पाप कर्म में लिप्त होती हैं, ऐसी स्त्रियों को समाज पुनः स्वीकार नहीं करता है । अति प्राचीन काल से इनको वेश्या या गणिका कहकर सम्बोधित किया जाता है । चाणक्य ने राज्य की व्यवस्था में इन गणिकाओं के हितों की रक्षा के लिए अनेक सूक्ष्म नियम बनाए हैं ।[■]

चाणक्य के परिवार-दर्शन का परीक्षण करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वह इस सन्दर्भ में परम्परा और प्रयोग दोनों को अपनी विचारधारा में स्थान देते हैं । जब वह भारतीय आश्रम-व्यवस्था के अनुरूप पारिवारिक रचना, विवाह, व्यवस्था और नारी-कल्याण के तत्वों को अंगीकार कर लेते हैं, किन्तु तत्कालीन परि-स्थितियों के अनुसार इन संस्थाओं में संशोधन की आवश्यकता भी अनुभव करते हैं । अतः निर्भीक विचारक और सुधारक के नाते साहस पूर्वक अन्तर्जातीय विवाहों, उनसे उत्पन्न सन्तानों विवाह-विच्छेद, विधवा-पुनर्विवाह, नियोग आदि के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी किन्तु व्यावहारिक नियमों की व्यवस्था करते हैं । सामाजिक व्यवस्था का एक सामान्य सिद्धान्त है कि यदि समाज के नियम अधिक कठोर,

---

1. ब्राह्मण- - - - - - - - लभेत । कौ० अ० 60/4/4

*

■ ~~व्यवस्थाओं के अनुसार~~

अपरिवर्तनशील और अलाभकारीहो जाते हैं तो समाज स्वयं ऐसे विधानों को परित्याग कर देता है । फलतः एक उच्छृंखल, कुत्सित और विघटित समाज का उदय होने लगता है । यदि समाज के कर्णधार समाज की प्रवृत्तियों को और परिस्थितियों को समुचित रूप से आत्मसात कर लेते हैं उनके अनुरूप सामाजिक विधान, नियमों और परम्पराओं में परिवर्तन कर देते हैं तो समाज जड़ता की स्थिति से मुक्त होकर गतिशीलता की ओर अग्रसर हो जाता है । इसीलिए आचार्य चाणक्य ने परिवार-धर्म में अनेक परिवर्तनों को स्थान दिया है । वह कहते भी हैं कि धर्म-व्यवहार में आने योग्य होना चाहिए ।[1] लोक व्यवहार को न समझने वाला शास्त्र का उधार का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति मूर्ख ही रहता है ।[2]

---

1. शास्त्रेऽप्यलोक्तो मूर्खतुल्यः/चा०सू० 543
1. व्यवहारानुलोमो धर्मः । चा० सू० 541

—

अध्याय-6

"चाणक्यसूत्राणि" का सामाजिक संरचना का दर्शन

समाज मनुष्य की एक अनिवार्य आवश्यकता है । मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज में रहने को विवश है । कोई व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं को कुशलता पूर्वक और सुविधा के साथ अकेले पूरा नहीं कर सकता है । इसलिए समाज में श्रम-विभाजन या कार्य-विभाजन की प्रणाली प्रचलित हुई । यह प्रणाली सभ्यता के आदि काल से विश्व समाज में पाई जाती है।[1] लेकिन इसमें देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार विभिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं । भारतीय सामाजिक व्यवस्था के इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस दिशा में यहाँ के विचारकों ने श्रम-विभाजन का एक अति उच्च, संश्लिष्ट और व्यावहारिक उपाय वर्ण-व्यवस्था के रूप में खोजा था ।[2] जो काल के प्रवाह में अनेक संगोधनों और परिवर्तनों के साथ आज भी विद्यमान है । भारत का जो प्राचीनतम इतिहास ज्ञात है, उससे यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद-काल में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप विकसित हो रहा था, पूर्ण रूप से परिपुष्ट नहीं हुआ था ।[3] ब्राह्मण और सूत्र काल में यह सिद्धान्त पुष्ट और परिष्कृत हुआ । चाणक्य काल के पूर्व ही यह व्यवस्था पूर्ण रूप से समाज में स्वीकृत हो चुकी थी ।[4] "अर्थशास्त्र" और "चाणक्य सूत्राणि" दोनों ग्रन्थों में इस सन्दर्भ में विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है । इन ग्रन्थों से एक तथ्य और भी उद्घाटित होता है कि चाणक्य-काल में भारतवर्ष की सम्पूर्ण जनता पहले दो वर्गों में विभक्त थी ।
1- आर्य और 2- अनार्य या दास । आर्यों में वर्ण विभाजन था । आर्य तीन वर्गों में विभक्त थे, ब्राह्मण , क्षत्रिय और वैश्य । शूद्र केवल अनार्यों में थे ।

---

1. आर०एच०लोवी, प्रिमिटिव सोसायटी, पृ० 324
2. डा०पी०वी०काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 109
3. जी०के० पिल्लय, ओरिजिन एन्ड डेवलपमेन्ट ऑफ कास्ट, पृ० 31
4. एन०के०दत्त, ओरिजिन एन्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इन्डिया, पृ० 134

"चाणक्य सूत्राणि" से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय आर्य-अनार्य का भेद पर्याप्त था । यह भेद सामयिक परिस्थितियों के कारण और सामाजिक परम्परा के कारण भी था।चाणक्य के वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी चिन्तन पर विचार करने के पूर्व उनके आर्य-अनार्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन होगा ।

1- चाणक्य का प्रजातीय चिन्तन

"चाणक्य सूत्राणि" में अनेक स्थलों में आर्य-अनार्य का उल्लेख हुआ है । जैसे, अपना कर्तव्य पालन करने वाला, आचार परम्परा को सुरक्षित रखने वाला आर्य कहलाता है । मनुष्य आर्य स्वभाव को सदा सुरक्षित रखे ।[1] अनार्यों से सौहार्द्र बढ़ाने से आर्यों की शत्रुता अच्छी है ।[2] नीच मनुष्य अर्थात् अनार्य अपनी क्रूरता और अनुदारता के कारण दूसरों से सहृदय बर्ताव करना नहीं जानता ।[3] आर्य और अनार्य का भेद प्रजातीय (रेशियल) है । यह विषय मुख्य रूप से नृतत्व शास्त्र (एन्थ्रोपोलॉजी) का है । नृतत्व शास्त्र यह अध्ययन करता है कि प्रजातियाँ क्या हैं, इनकी क्या विशेषताएँ हैं, इनका कैसे विकास हुआ है, इनका कहाँ-कहाँ विकिरण है? इस शास्त्र के अनुसार पहले प्रजाति की संकल्पना को समुचित रूप से जान लें, तो चाणक्य के दृष्टिकोण को जानने में सरलता होगी ।

हम यदि कहीं चित्रों में या प्रत्यक्ष रूप से अफ्रीकी नीग्रो, चीनी, अंग्रेज और भारतीय को देखते हैं, तो तत्काल जान लेते हैं कि यह मूलतः कहाँ के व्यक्ति हैं । शारीरिक विशेषताओं और रंग की भिन्नता के कारण इस पृथक्करण का बोध हो जाता है । इन स्पष्ट शारीरिक विशेषताओं के आधार पर संसार के मनुष्यों का वर्गीकरण किया गया । एक तरह की शारीरिक विशेषताओं के लोग एक प्रजाति के कहलाते हैं ।

---

1. आर्यवृत्त मनुष्ठितेन /चा०सू० 310
2. अनार्यसंबन्धादूरमार्यमनुता/चा०सू०486
3. नास्त्यनार्यस्य कृपा / चा०सू० 533

नृतत्व शास्त्रियों ने इन वर्गीकरणों को अनेक नाम दिए हैं । प्रजाति की परिभाषा करते हुए कहा गया है, "प्रजाति मनुष्यों के ऐसे बड़े समूह को कहते हैं, जिनके सदस्यों के शारीरिक लक्षणों में सामान्य रूप से समानता होती है । ये समानताएँ सदस्य अपने पूर्वजों से वंशानुक्रमण से प्राप्त करते हैं । चूंकि एक प्रजाति के लोग सामाजिक कारणों से अपने समूह में ही विवाह करते हैं, इसलिए उस समूह में एक ही प्रकार के शारीरिक गुणों वाले व्यक्तियों की वृद्धि होती जाती है ।[1]" एक प्रजाति के समान प्रकार की विशेषताओं के लोग अनन्त काल से एक विशेष भौगोलिक परिवेश में रहे हैं । उन्होंने अपने रहन-सहन, भोजन, वस्त्र, आवास, रीति-रिवाज, धर्म आदि का विकास कर लिया और उसे अच्छा भी समझने लगे । जब एक प्रजाति के लोगों में दूसरी प्रजाति के लोग प्रवेश करते हैं तो दोनों प्रजाति के लोगों को अपनी-अपनी संस्कृति और रक्त की शुद्धता बनाए रखने की विशेष चिन्ता होती है । प्रायः बाहर से आई हुई संस्कृति और लोगों को ठीक नहीं समझा जाता । फलतः एक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है । यह समस्या मानव-इतिहास के आदि काल में भी थी और आज भी है । अमेरिका और अफ्रीका में गोरे काले का संघर्ष नित्य रक्तपात कराता है ।

आचार्य चाणक्य जब आर्य और अनार्य का भेद करते हैं, तो वह इसी प्रजातीय समस्या की ओर संकेत कर रहे हैं । वस्तुतः भारत में प्रजातीय समस्या अनेक बार उत्पन्न हुई । ~~पहली बार उस समय यह समस्या उत्पन्न~~ पहली बार उस समय यह समस्या उत्पन्न हुई, जब आर्यों ने सम्पूर्ण भारत में अपना विस्तार किया तो आर्यों और द्रविड़ों के बीच में संघर्ष हुआ । दूसरा संघर्ष यहाँ के आदिवासियों और आर्यों के बीच हुआ । तीसरा संघर्ष उस समय हुआ जब विदेशी आक्रमणकारी विभिन्न कालों में आए । चाणक्य के पूर्व यूनानियों का सिकन्दर के नेतृत्व में एक प्रबल आक्रमण हुआ था । फिर चन्द्रगुप्त के काल में सेल्यूकस का आक्रमण हुआ और वह भारत से पराजित होकर गया । सिकन्दर के बाद भारत के कुछ भागों में यूनानियों का आधि-

---

1. राजीव लोचन शर्मा, नृतात्विक भूगोल, पृ० 100

पत्य और प्रभाव रहा । फलस्वरूप एक विदेशी प्रजाति के लोगों के सम्पर्क से अनेक सांस्कृतिक और प्रजातीय समस्याएं उत्पन्न होने लगीं । ये लोग यहाँ विवाह आदि करके रक्त की शुद्धता को नष्ट कर रहे थे तथा अपने आचार-विचार से भारतीय जनमानस को प्रभावित कर रहे थे । निःसन्देह शारीरिक और सैन्यबल में यूनानी कुछ अधिक शक्तिशाली प्रतीत हुए थे, लेकिन उनकी क्रूरता और पैशाचिक सम्पदा भारतीय आर्यों की तुलना में नगण्य थी । इस सन्दर्भ में अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ और जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनसे भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता प्रमाणित होती है ।

चाणक्य के काल के पूर्व प्रजातीय परिशुद्धता की सुरक्षा के लिये वैदिक आर्यों ने अथक प्रयास किया था । वे वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था का विकास करके वे प्रजातीय मिश्रण को रोकने में समर्थ हुए थे । वैदिक-काल से चाणक्य-काल तक वर्ण और आश्रम-व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी । इसके प्रमाण ब्राह्मण, गृह्य सूत्र और महाकाव्य आदि हैं । आचार्य चाणक्य व्यावहारिक समाज-चिन्तक थे । उन्होंने अनुभव कर लिया था कि समाज के कार्य-संचालन के लिए वर्ण और आश्रम से अधिक उपयुक्त अन्य विकल्प नहीं हैं । यदि विदेशी संस्कृति के प्रभाव से इनको नष्ट कर दिया गया, तो समाज विशृंखलित और विघटित हो जाएगा, जो पुनः सुसंचालित करने के लिए कोई आधार नहीं प्राप्त होगा । यह एक प्रकार से सांस्कृतिक विभ्रम की स्थिति होगी । इसीलिए आचार्य चाणक्य ने अनार्यों के आचरण के अनुकरण का निषेध किया है । यह अनार्य वे लोग भी हो सकते हैं जो वैदिक काल से दास या शूद्र रूप में चले आ रहे थे, अथवा जो, विदेशी यवनों के रूप में भारतीय समाज में प्रवेश की चेष्टा कर रहे थे । आचार्य चाणक्य जब अनार्यों से घनिष्ठ सम्पर्क न रखने अथवा उनके आचरण का अनुकरण न करने की बात कहते हैं तो इसमें एक पृथकतावादी या पूर्वाग्रह -पूर्ण चिन्तन का आभास मिलता है । लेकिन यदि हम उनके समग्र चिन्तन का आकलन करें, तो हमें प्रतीत होगा कि वस्तुस्थिति यह नहीं थी । हम यदि तत्कालीन परिस्थितियों को अपने सामने रखते हुए विचार करें, तो चाणक्य राष्ट्र की अखंडता और सांस्कृतिक निष्ठा के रक्षक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं । विदेशी आक्रमणकारियों के प्रति जब तक क्रोध और घृणा

का भाव नहीं होगा, तब तक उनका प्रबल विरोध नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त किसी देश के निवासियों में अपनी संस्कृति और सभ्यता के लिए गौरव का भाव नहीं होगा, तब तक उस देश के निवासी दूसरी संस्कृति के प्रति सम्मोहन को त्याग नहीं सकेंगे तथा एक दृढ़ समाज का निर्माण नहीं कर सकेंगे । आचार्य जब अनार्यों का विरोध करते हैं, तो एक राष्ट्र के रक्षक, संस्कृति के उद्धारक, और भारतीय चेतना के संवाहक रूप में तत्कालीन समाज का पथ प्रदर्शन करते हुए प्रतीत होते हैं ।

2. चाणक्य का वर्ण-व्यवस्था-विवेचन

"चाणक्यसूत्राणि" में आचार्य चाणक्य कहते हैं कि धर्मवेद से बाहर नहीं होता । वैदिक धर्म क्या है ? इसका स्पष्टीकरण स्वयं चाणक्य ने अर्थशास्त्र में किया है । वह वहाँ वर्ण और आश्रम धर्म का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं । 'त्रयी (साम,ऋक और यजु वेदों का समन्वित नाम) में निरूपित यह धर्म चारो वर्णों को और आश्रमों को अपने कर्तव्य में स्थिर रखने के लिए लोक का बहुत उपकारक है । ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-याजन और दान देना तथा दान लेना है । क्षत्रिय का धर्म है पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्रास्त्र से जीविकोपार्जन और प्राणियों की रक्षा करना । वैश्य का धर्म है पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, कृषि कार्य, पशुपालन और व्यापार करना । इसी प्रकार शूद्र का अपना धर्म है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की सेवा करें और शिल्प (कारीगरी), गायन, वादन एवं चारण भाट आदि का कार्य करे ।"[1]

आचार्य चाणक्य ने इस विषय का विवेचन क्रम में इसलिए किया है कि उनके पूर्ववर्ती धर्माचार्यों, स्मृतियों और विद्वानों ने जो मान्यताएं वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में स्थिर कर दी थीं, उनसे वह सहमत थे तथा उन्होंने अपने ग्रन्थों में इस व्यवस्था के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विवेचन कर दिया था । यहाँ पर उसका एक विहंगावलोकन चाणक्य की परिदृष्टि को आत्मसात करने में सहायक होगा ।

---

1. एष त्रयी धर्म . . . . . कौटलीयअर्थशास्त्र /कौ0अ0१/३/२-३

आचार्य ब्राह्मण की सबसे बड़ी विशेषता ब्रह्मवेत्ता होना बताते हैं, उनके अनुसार यही ब्राह्मणों का अलंकार या आभूषण है ।"[1] ब्राह्मण वर्ण के धर्म के विषय में महाभारत में भीष्म पैलाम्यायन के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं," इन्द्रिय संयम ब्राह्मणों का प्राचीन धर्म है, इसके अतिरिक्त उन्हें सदा वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए । इसी से उनके सब कर्मों की पूर्ति हो जाती है । यदि अपने वर्णोचित कर्म में स्थित, शान्त और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त ब्राह्मण को किसी प्रकार के अन्य कर्म का आश्रय लिए बिना ही धन प्राप्त हो जाए, तो वह उस धन से विवाह करके सन्तान की उत्पत्ति करे अथवा उस धन को दान और यज्ञ में लगा दे । धन बांटकर ही भोगना चाहिए , ऐसा सत्पुरुषों का कथन है । ब्राह्मण केवल वेदों के स्वाध्याय से कृत-कृत्य हो जाता है, दूसरा कर्म करे या न करे ।"[2] गीता में भी भगवान कृष्ण कहते हैं कि शम, दम, तप, शुचिता, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता ये सब ब्राह्मण के स्वभावज गुण हैं ।

क्षत्रिय धर्म की व्याख्या करते हुए भीष्म कहते हैं कि क्षत्रिय दान तो करें, परन्तु कभी याचना न करे । स्वयं यज्ञ करे, परन्तु पुरोहित बनकर यज्ञ न कराये । अध्ययन करे पर, अध्यापन न करे, प्रजा की सब प्रकार से रक्षा और पालन करे । रणभूमि में पराक्रम करे । युद्ध ही क्षत्रियों का प्रधान धर्म है । राजा दूसरा कर्म करे या न करे, वह प्रजा की रक्षा करने मात्र से कृत-कृत्य हो जाता है ।"[3] मनुस्मृति में भी लिखा है कि प्रजा-रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन करना और विषयों में न लगना क्षत्रिय धर्म है।[4] गीता में भी वर्णित है-शौर्य, धैर्य, तेज, चातुर्य, युद्ध में डटे रहना, दान और स्वामिभाव-ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ।[5]

---

1. विप्राणां भूषणं वेदः/चा०नी० 366
2. महाभारत, शान्तिपर्व 60/7-11
3. महाभारत, शान्तिपर्व 60/13-20
4. मनुस्मृति 1/7
5. गीता 18/43

वैश्य धर्म के बारे में वैशम्पायन को भीष्म बताते हैं कि दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धन का संग्रह -ये वैश्य के कर्म हैं। वैश्य सदा उद्योगशील रहकर पुत्रों की रक्षा करने वाले पिता के समान सब प्रकार के पशुओं का पालन करे। इसके अतिरिक्त वह जो भी करेगा, उसके लिए विपरीत कर्म होगा। प्रजापति ने पशुओं की सृष्टि करके, पालने का भार वैश्यों को सौंप दिया था। इससे वैश्य को महान सुख की प्राप्ति हो सकती है।[1] गीता में भी कृष्ण जी ने वैश्य के कर्तव्य इस प्रकार बताए हैं - "कृषि, गौरक्षा और वाणिज्य वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं। स्मृति में कहा गया है, "यदि वैश्य को अपने धर्म के अनुकूल जीविका प्राप्त न हो तो शूद्रवृत्ति अर्थात सेवा भी कर ले, किन्तु अनुचित और निन्दनीय कार्य न करे।"[2]

शूद्रों के धर्म के विषय में भीष्म कहते हैं कि प्रजापति ने तीनों वर्णों के सेवक के रूप में शूद्र की सृष्टि की। अतः शूद्र के लिए तीनों वर्णों की सेवा ही शास्त्र निहित कर्म है। वह तीनों वर्णों की सेवा करके ही महान सुख पा सकता है। शूद्र को कभी धन संग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वह पाप में प्रवृत्त हो जाता है और अपने श्रेष्ठ को भी अपने अधीन रखता है। शूद्र राजा की अनुमति से धार्मिक कार्य कर सकता है। अपनी सेवा में रहने वाले शूद्र को उपभोग में लाए हुए छाते, पंखी, जूते, पंखे आदि दे देने चाहिए। यदि स्वामी सन्तान हीन हो तो सेवा करने वाले शूद्र को उसका पिण्डदान करना चाहिए। किसी भी आपत्ति में शूद्र को अपने स्वामी का परित्याग न करना चाहिए।[3]

चाणक्य इस प्रकार की सामाजिक संरचना का समर्थन करते हैं तथा राज्य और राजा से यह आशा करते हैं कि वह समाज में वर्ण-व्यवस्था सुचित

---

1. महाभारत, शान्ति पर्व 60/21-23
2. स्मृति 10/31
3. महाभारत, शान्तिपर्व 60/28-40

रूप से लागू करे, जिससे प्रत्येक वर्ण के लोग अपने-अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करते रहें ।

3. चाणक्य की वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण की स्थिति

प्रसिद्ध इतिहासकार आर०सी०मजुमदार का विचार है, कि "क्षत्रियों और ब्राह्मणों के मध्य उच्चता के लिए संघर्ष इस काल का प्रमुख वैशिष्ट्य प्रतीत होता है । ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से यह अनुमान करना सहज है कि इस प्रकार संघर्ष कभी भी विद्यमान नहीं था तथा सर्वोच्चता के लिए ब्राह्मण का दावा सदा एक निर्विवाद सत्य था । किन्तु सर्वोच्चता के लिए संघर्ष की यथार्थता प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध कतिपय आकस्मिक उल्लेखों से प्रकट है । जिसका भण्डारकर ने विशद विश्लेषण किया है ।[भण्डारकर, संस्कृत टेक्स्ट्स पृ०33-7-37।] परन्तु उन्हें केवल ब्राह्मण ग्रन्थों पर निर्भर रहना पड़ा था, जिससे सत्य को निष्पक्षता पूर्वक व्यक्त करने की आशा नहीं की जा सकती । इसका दूसरा पक्ष बौद्धग्रन्थों में प्रतिबिम्बित है । जहाँ क्षत्रियों के लिए समान रूप से निर्विवाद सर्वोच्चता का दावा किया गया है ।"[1] चाणक्य के पूर्व बौद्ध और जैन धर्मों का प्रभाव फैल चुका था । दोनों धर्मों के प्रवर्तक क्षत्रिय थे । इन धर्मों ने पुरोहितवाद, ब्राह्मणवाद, कर्मकाण्ड आदि का प्रबल विरोध और खण्डन किया था । इससे ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति पर प्रभाव पड़ा था, उन्हें उपेक्षा और अपमान की दृष्टि से देखा जाने लगा था । बौद्धकाल में सामाजिक सोपान में क्षत्रियों की स्थिति सर्वोच्च हो गई थी । चाणक्य के उदय के समय तक वैदिक और बौद्ध धर्म दोनों की स्थिति में ह्रास हुआ था । चाणक्य के बुद्धि कौशल तथा चन्द्रगुप्त के शौर्य और पराक्रम से विघटित देश एकीकृत हुआ और वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का प्रबल प्रयास किया गया । इससे ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति में पुनः एक परिवर्तन आया । चाणक्य के अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि चाणक्य के युग में ब्राह्मणों को विशेष अधिकार प्राप्त थे । आचार्य "अर्थशास्त्र" में पुरोहित के गुण बताते हुए कहते हैं, "उच्चकुलोत्पन्न, शील-गुण सम्पन्न, वेद-वेदाङ्गों का ज्ञाता,

---

ज्योतिषशास्त्र, शकुन शास्त्र, दण्डनीति में पारंगत, अथर्ववेद में निर्दिष्ट उपायों द्वारा दैवी तथा मानुषी विपत्तियों का प्रतिकार करने वाला, इन योग्यताओं से सम्पन्न ब्राह्मणों को पुरोहित नियुक्त करना चाहिए। जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र, स्वामी के पीछे नौकर, वैसे ही राजा को पुरोहित का अनुगामी होना चाहिए। ऐसे पुरोहित वाला राजा अलभ्य वस्तुओं को सहज ही प्राप्त कर लेता है।"[1] चाणक्य कहते हैं, "भोजवंशीय दाण्डक्य नामक राजा ने कामवश होकर ब्राह्मण कन्या का अपहरण करने के अपराध में उसके पिता के शाप से, सपरिवार एवं सराष्ट्र नष्ट हो गया। यही गति विदेह देश के राजा कराल की भी हुई, राजा जनमेजय भी ब्राह्मणों से कलह और अपमान कर बैठा, वह भी शाप से नष्ट हो गया।"[2] जिस भूमि को वृक्षलता एवं मृग आदि के लिए छोड़ दिया गया हो, ऐसे दो कोस तक फैले हुए स्थान को वेदाध्यायी ब्राह्मणों को वेदाध्ययन और सोमयाग के लिए दे देना चाहिए।[3] ब्राह्मण, वेदज्ञ और तपस्वी को इतना ही दण्ड दिया जाए कि सिपाही उनको इधर उधर दौड़ा दें।[4] जो शूद्र अपने को ब्राह्मण बताए ..... ऐसे को औषधियों का सुरमा लगाकर अंधा कर दें ..... जुरमाना हो।[5] जो ब्राह्मण की भोजशाला से बचा अन्न लेकर खाये तो उसकी जिह्वा काट दी जाए।[6] जो व्यक्ति किसी ब्राह्मण को अखाद्य पदार्थ खिला-पिलाए तो उसे उत्तम साहस का दण्ड दिया जाए। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं अभक्ष्यभोज्य वस्तुओं का प्रयोग करें तो देश निकाला दिया जाए।[7]

---

1. पुरोहित ..... शास्त्रितम्/कौ0अ04/8/2-3
2. यथा दाण्डक्यो ..... वैदेहः/कौ0अ03/5/2
3. प्रकिरा ..... सोमारण्यानि/कौ0अ018/2/1
4. ब्राह्मणस्य ..... उत्तमोदण्डः/कौ0अ083/8/1
5. शूद्रस्य ..... वादण्डः/कौ0अ085/10/1
6. ब्राह्मण ..... जिह्वामुत्पारयेत्/कौ0अ086/11/66
7. ब्राह्मणभोग्य ..... कार्यः/कौ0अ088/13/1-2

यदि ब्राह्मण से कोई महान अपराध हो जाए तो भी उसका वध नहीं करना चाहिए, क्योंकि ब्राह्मण वध निषिद्ध है । उसे देश या देश निकाला दिया जाए ।[1] राजा को चाहिए कि ब्राह्मणों को भूमिदान करे किन्तु उनसे कर आदि न ले और न ही उस भूमि को वापस ले ।[2]

उपर्युक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि चाणक्य ने अपने द्वारा निर्मित संविधान में ब्राह्मणों को पर्याप्त सुविधाएं प्रदान कीं तथा उनकी सामाजिक स्थिति को परमोच्च बनाने का प्रयास किया लेकिन इसके साथ-साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह ब्राह्मण के लिए कठोर संयम और अनुशासन भी निर्धारित करते हैं, जितने कि अन्य वर्ण के लोग मुक्त हैं । जब वह कहते हैं कि ब्राह्मण को ब्रह्म तत्व वेत्ता, वेदों का ज्ञाता हो तो स्वतः उस पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है । उसे अपनी बुद्धि और ज्ञान से समाज की बहुत बड़ी सेवा करनी है । इस दृष्टि से यदि उसे कुछ सुविधाएं प्राप्त हैं, तो अनुचित नहीं प्रतीत होतीं । आज के प्रजातंत्र में भी बुद्धिजीवी और सत्ता के निकट के व्यक्ति वैधानिक रूप से अनेक सुविधाओं का उपभोग करते हैं ।

4. चाणक्य का दास-प्रथा सम्बन्धी चिन्तन

चाणक्य के काल में दास प्रथा का पर्याप्त प्रचलन था । ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में दास बेचे और खरीदे जाते थे । चाणक्य ने इस दास-प्रथा का अन्त करने का कोई प्रयास तो नहीं किया, किन्तु दास-प्रथा में अनेक ऐसे सुधार बताए जिनसे उनकी अमानवीय स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन होने की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं । "अर्थशास्त्र" में इनका विस्तृत विवेचन किया गया है । यहाँ पर कुछ उल्लेखनीय तथ्यों को प्रस्तुत किया जा रहा है ।

---

1. महापराधे . . . . . वा निष्क्रयः/कौ0अ0 4/0/40-41/3/4
2. ऋत्विगाचार्य . . . . . /कौ0अ0 3/17/1/5

1- यदि कोई व्यक्ति अपने को बेच देता है तो उसका पुत्र आर्य या स्वतंत्र व्यक्ति होगा ।

2. यदि कोई दास अपने स्वामी द्वारा निर्धारित कार्य को समय के अन्तर्गत पूरा कर देता है और बचे हुए समय में कोई दूसरा कार्य करके धनोपार्जन करता है तो उस धन पर दास का अधिकार होगा ।

3. किसी दास को रुपया या अन्य सुविधाओं के सम्बन्ध में धोखा देता है, तो यह दण्डनीय अपराध होगा ।

4. यदि कोई दास उच्च जाति का है और उसके प्रति उसका मालिक हिंसात्मक व्यवहार करता है, तो उसे भाग जाने का अधिकार है ।

5. महिला दासी अपने मालिक के सामने उस स्थिति में जाने के लिए विवश नहीं है, जब वह नग्न स्नान कर रहा हो ।

6. यदि कोई स्वामी महिला दास के सतीत्व को नष्ट करता है तो उस दासी और उसके बच्चे को स्वतंत्र होने का अधिकार है ।

7. यदि कोई स्वामी किसी महिला दास को गर्भावस्था में बेच देता है और प्रसव का अवकाश नहीं देता है, तो यह दण्डनीय अपराध है ।

8. किसी दास को मुर्दों, भेला, मूत्र और जूठा भोजन उठाने के लिए विवश नहीं किया जा सकता ।

9. इसी प्रकार का व्यवहार-परिचारिकाओं या महिला नौकरों के साथ नहीं किया जा सकता । यदि कोई स्वामी ऐसा करता है, तो वह दास कर्म से मुक्त हो सकती है ।

10. यदि कोई स्वामी दासी या गिरवी रखी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध अनैतिक व्यवहार करता है, तो उसको उस महिला को आर्थिक क्षति पूर्ति करनी होगी तथा सरकार उसे दण्डित करेगी ।

11. यदि किसी दास, दासी की मृत्यु हो जाती है, तो उसकी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त होगी ।[1]

---

1. प्रेतवि . . . . . विमुच्यते/कौ0अ0 69/13/2-4-3

चाणक्य के उपर्युक्त विचारों को अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व वह उदार और मानवतावादी थे। उन्होंने विशेष वर्गों के हितों की सुरक्षा और कल्याण के लिए उस युग में कार्य किया, जब राजतंत्र और सामन्तवाद अपने चरम उत्कर्ष पर थे।

5. चाणक्य के चिन्तन में जाति व्यवस्था और अन्तर्जातीय सम्बन्ध

वैदिक युग का समाज अत्यन्त सरल था। श्रम-विभाजन की समस्या जटिल नहीं हुई थी। गहरी प्रजातियों का हस्तक्षेप भी कम था। लेकिन चाणक्य के काल तक समाज जटिल हो गया। अनेक व्यवसायों में विशेषीकरण हुआ। अनेक नई जातियां आई। इन सब को वर्ण व्यवस्था के ढांचे में आबद्ध करना असम्भव था। क्योंकि वर्ण-व्यवस्था के नियम बड़े कठोर थे। अतः यहाँ के कर्णधारों ने एक नई व्यवस्था खोज ली और वह थी जाति-व्यवस्था। इसमें एक व्यवसाय को करने वाले लोगों के संघ जैसे बन गए और उन्हीं को एक विशेष जाति का नाम दे दिया गया। यों जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह अनुमान मात्र है। इस सम्बन्ध में समाज शास्त्र के विद्वानों ने बहुत प्रयास किया है और अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए। जैसे प्रजातीय सिद्धान्त, व्यवसायात्मक सिद्धान्त, ब्राह्मणवादी सिद्धान्त, विकासवादी सिद्धान्त, धार्मिक सिद्धान्त आदि। लेकिन इनमें कोई सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। सबका खण्डन-मण्डन होता है। किन्तु सामान्य रूप से यह अनुमान सत्य के निकट प्रतीत होता है। जातियों के उद्भव का व्यवसाय से निकट का सम्बन्ध है।

कौटिल्य "अर्थशास्त्र" में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त अनेक जातियों के नामों और कार्यों का उल्लेख मिलता है और ये भी ज्ञात होता है कि ये जातियां सामान्य रूप से व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी बनी थीं। इनमें अन्तर्जातीय विवाहों का विशेष योगदान था।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में कुछ जातियों का विवरण इस प्रकार है, जो अन्तर्जातीय विवाहों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई ।

					नई जाति
ब्राह्मण	पिता	और	वैश्य	माता	अम्बष्ठ
ब्राह्मण	पिता	और	शूद्र	माता	निषाद
क्षत्रिय	पिता	और	शूद्र	माता	उग्र
वैश्य	पिता	और	शूद्र	माता	शूद्र
क्षत्रिय	पिता	और	ब्राह्मण	माता	सूत
उग्र	पिता	और	निषाद	माता	कुक्कट
निषाद	पिता	और	उग्र	माता	पुल्कस
अम्बष्ठ	पिता	और	वैदेहक	माता	वैश्य
वैदेहक	पिता	और	अम्बष्ठ	माता	कुशिलव
शूद्र	पिता	और	ब्राह्मण	माता	आयोगव
शूद्र	पिता	और	क्षत्रिय	माता	क्षत्ता
शूद्र	पिता	और	वैश्य	माता	चाण्डाल

भिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों के संयोग से जो जातियां बनी है, उनको चाणक्य ने वर्ण संकर कहा है । वह कहते हैं कि "पूर्वापरगामी होने तथा धर्म का निर्णय करने में वे अपने पूर्वजों का अनुगमन करें । अथवा चाण्डालों को छोड़कर सभी संकर जातियों का धर्म शूद्रों के ही समान समझना चाहिए ।"[1]

चाणक्य ने सामान्य मनुष्यों की दुर्बलताओं को स्वीकार करते हुए अपने विधान में अन्तर्जातीय विवाहों को भेद तो मान लिया लेकिन एक ऐसी व्यवस्था प्रदान की है जिसे अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न

---

1. स्वयंजातः. . . . . चाण्डालेभ्यः/को0अ063/1/1-8

सन्तानों को सम्मानित स्तर नहीं प्राप्त हो पायगा । वे वर्ण से बाहर एक हीन स्थिति में जीवन यापन करेंगे । यह व्यवस्था सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करेगी । इससे लोग अन्तर्जातीय विवाहों को उच्छृंखलता के कारण स्वीकार नहीं करेंगे, समाज पर एक प्रकार का अंकुश होगा ।

6. आश्रम-व्यवस्था

प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना में वर्ण और आश्रम का संयुक्त रूप से उल्लेख होता है । आश्रम-व्यवस्था का दर्शन पुरुषार्थों पर आधारित है । चाणक्य के बाद के शास्त्रकारों ने चार पुरुषार्थ बताए हैं :- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । लेकिन आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र में केवल तीन-धर्म, अर्थ, और काम का उल्लेख किया है । इसे वह त्रिवर्ग कहते हैं । "चाणक्यसूत्राणि" में मोक्ष का उल्लेख मिलता है । वास्तव में पुरुषार्थ त्रयी का चाणक्य का विभाजन उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि धर्म अपने आप में व्यापक शब्द है, मोक्ष इसमें स्वतः अन्तर्निहित हो जाता है ।

पुरुषार्थों के अतिरिक्त आश्रम-व्यवस्था में चार ऋणों से उद्धार होने का भी सिद्धान्त पाया जाता है । ऋणों का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तरीय संहिता में मिलता है । "जन्म प्राप्त करने वाला ब्राह्मण तीन ऋणों के साथ जन्म लेता है । ऋषियों का ऋण ब्रह्मचर्य से, देवों का ऋण यज्ञ से तथा पितरों का ऋण प्रजा-उत्पादन से चुकाया जा सकता है । पुत्रवान, यजनशील तथा ब्रह्मचर्य को पूर्ण करने वाला मानव ऋण होता है ।"[1] शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में इसका संशोधन किया गया है, उसमें ब्राह्मण शब्द हटाकर इसे सभी मनुष्यों पर लागू किया गया तथा एक चौथे मनुष्य ऋण की कल्पना की गई । मनुष्यों को अन्न वस्त्र दान करने से मनुष्य ऋण अदा हो सकता है ।"[2]

---

1. तैत्तरीय संहिता
2. शतपथ ब्राह्मण

"चाणक्य सूत्राणि" और "अर्थशास्त्र" में इन ऋणों और पुरुषार्थों की प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विवेचन किया गया । स्पष्ट रूप से अर्थशास्त्र में चार आश्रमों और उनके कार्यों का उल्लेख किया गया है । गृहस्थ अपनी परम्परा के अनुरूप कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करे । सगोत्र तथा असगोत्र समाज में विवाह करे । अनुगामी हो, देव, पितर, अतिथि और भृत्यजनों को देकर सबसे अन्त में भोजन करे । ब्रह्मचारी का धर्म है वह नियमित स्वाध्याय करे, अग्निहोत्र रखे, नित्य स्नान भिक्षाटन करे, जीवनपर्यन्त गुरु के समीप रहे । वानप्रस्थी का धर्म है, ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना, भूमि पर शयन करना, जटा-श्मश्रु को धारण करना । अग्निहोत्र तथा प्रतिदिन स्नान करना, कन्द- मूल-फल पर जीवन निर्वाह करना । सन्यासी का धर्म है जितेन्द्रिय होना, किसी भी सांसारिक कर्म को न करे, प्राणरक्षा मात्र के लिए स्वल्पाहार करे, जंगल में भी एक स्थान पर न रहे, अपने को भीतर बाहर पवित्र रखे ।[1] आचार्य चाणक्य कहते हैं कि प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम का धर्म है कि वह किसी प्रकार की हिंसा न करें , तत्य बोले, पवित्र रहे, ईर्ष्या न करे, दयावान और क्षमाशील बना रहे । अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है । इसलिए राजा का कर्तव्य है वह प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से हटने न देने दे, ऐसा राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है । पवित्र आर्य मर्यादा में अवस्थित, वर्णाश्रम धर्म में नियमित और त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा सदा सुखी रहती है ।[2]

आचार्य चाणक्य जब वर्णाश्रम-धर्म का प्रतिपादन करते हैं तो वह सामाजिक संगठन के बहुत ही परिष्कृत और उच्च सिद्धान्त की सृष्टि करते हैं । आधुनिक समाज-दर्शन इस तथ्य को स्वीकार करता है कि व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं । व्यक्ति के अभाव में समुदाय का संगठन संभव नहीं है और समाज के अभाव में व्यक्ति का अस्तित्व और विकास सम्भव नहीं है।[3]

---

1. गृहस्थस्य . . . . . च शौचम् /को0अ0।/2/4-1-2
2. सर्वेषां . . . . . सीदति/को0अ0।/2/3-6
3. केऽडेविस, ह्यूमन सोसायटी, गिलिन और गिलिन, कल्चरल सोसियोलॉ

सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति का विकास व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध से ही सम्भव हुआ है । आचार्य आश्रम-व्यवस्था का समर्थन करते हुए समाज को ऐसे व्यक्ति प्रदान करना चाहते हैं जो उदार, संयमी, सहिष्णु, कर्मठ तथा विवेकी हों । वह व्यक्ति के समक्ष एक महान लक्ष्य मोक्ष को प्रस्तुत करते हैं और चारों आश्रमों के माध्यम से उसके व्यक्तित्व का शनैः-शनैः परिष्कार और संस्कार करने की व्यवस्था करते हैं । यद्यपि उनका लक्ष्य धर्म के द्वारा परमसुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करना है, किन्तु वह मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों से अवगत हैं इसलिए उसे अर्थ और काम की पूर्ण उपेक्षा का करने का आदेश नहीं देते हैं । दूसरे शब्दों में, आचार्य चाणक्य प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के समन्वय के पक्ष-पोषक हैं । आचार्य चाणक्य की वर्णाश्रम व्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे इसे सुचारू रूप से चलाने के लिए राज्य के अधीन कर देते हैं अर्थात् राजा का यह दायित्व है कि वह सदा सावधान रहे कि वर्ण और आश्रम की मर्यादाओं का उल्लंघन न हो । जो उल्लंघन करे उसे समुचित दण्ड दे ।

"चाणक्यसूत्राणि" में वर्ण और आश्रम का पृथक रूप से विवेचन अवश्य नहीं है किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक में वर्ण और आश्रम कर्तव्यों से सम्बन्धित अनेक सूत्र हैं । उदाहरण के लिए ब्राह्मण को कैसा होना चाहिए, क्षत्रिय राजा के क्या कर्तव्य होने चाहिए, वानप्रस्थी, तपस्वी की दिनचर्या कैसी हो, पति-पत्नी के क्या कर्तव्य हैं, ब्रह्मचारी का क्या महत्व है, संसार के प्रति क्या दृष्टिकोण हो, अर्थोपार्जन क्यों उपयोगी है, सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, इन्द्रिय संयम आदि गुणों का जीवन में क्या महत्व है आदि । इनमें से अनेक सूत्रों की व्याख्या पिछले अध्यायों में की जा चुकी है और कुछ की अधिक विस्तृत व्याख्या आगामी अध्याय समाज के धर्म-दर्शन में की जाएगी । उदाहरण के लिए कुछ सूत्र दिए जा रहे हैं :—"नीतिशास्त्र का अनुगामी होना होना राजा की योग्यता है ।"[1] वेद अर्थात् ब्रह्मज्ञान ब्राह्मणों का भूषण है ।[2]

---

1. नीतिशास्त्रानुगो राजा/चा०सू०48 | 2- विप्राणां भूषणं वेदः । चा०सू०366

ब्राह्मण वेदों का ज्ञाता, और यज्ञ-याजन करने वाला हो ।[1] वानप्रस्थी और सन्यासी का धर्म है, ब्रह्मचर्य पूर्वक, जितेन्द्रिय होकर, भूमि पर सोए, जीवन रक्षा मात्र के लिए भोजन करे आदि ।[2] सारा विश्व अर्थ के लिए कर्म में प्रवृत्त होता है ।[3] समस्त नीतिक सुख तथा उसके समस्त साधन अनित्य हैं ।[4] मानव समाज सत्य से ही सुव्यवस्थित रहता है ।[5] दया से धर्म-निष्ठा पैदा होती है ।[6] क्षमाशील व्यक्ति ही सब कार्यों में सफलता पाता है ।[7] जितात्मा नीतिवान लोग समस्त सम्पत्तियों से प्रसन्न होकर रहें ।[8]

---

1. स्वधर्मो ब्राह्मणस्य . . . ./कौ0अ01/2/3
2. वानप्रस्थस्य . . . . . च शौचम् /कौ0अ01/2/1-2
3. अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः/ चा0सू0 502
4. सर्वमनित्यं भवति/चा0सू0566
5. सत्येन धार्यते लोकः/ चा0सू0 419
6. दया धर्मस्य जन्मभूमिः/ चा0सू0 236
7. क्षमावानेव सर्वं साधयति/चा0सू0536
8. जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्येत/ चा0सू0 10

6. समुदाय का संगठन

समुदाय अंग्रेजी 'कम्यूनिटी' के हिन्दी-रूपान्तर के रूप में प्रयोग किया जा रहा है । समाज-दर्शन और समाज शास्त्र के अन्तर्गत यह पारिभाषिक शब्द है, जिसका विशेष अर्थ है । इसकी परिभाषा करते हुए किंग्सले ने कहा है, 'यह एक ऐसा समूह होता है जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ सकते हैं ।'[1] आर०एम० मैकाइवर ने इसकी निम्नांकित विशेषताएँ बताई हैं, 'समुदाय के मनुष्य एक निश्चित भूभाग में रहते हैं । इन मनुष्यों में परस्पर ऐसे सम्बन्ध होते हैं जिससे वे एक दूसरे के सुख-दुःख में रुचि लेते हैं । यह एक स्थायी अर्थात् एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने वाला समूह होता है ।'[2] इसका एक विशेष नाम भी होता है । यों इसके अन्तर्गत पूरा राष्ट्र भी आ सकता है, लेकिन समुदाय की सबसे छोटी इकाई गाँव होती है । शहरों में भी समुदाय होते हैं, लेकिन सामाजिक सम्बन्धों में घनिष्ठता, परस्पर निष्ठा जैसे भावों का शहरों में अभाव है । फिर नगरों को भी एक समुदाय माना जा सकता है । प्राचीन भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ डा० आर०सी० मजुमदार अपने निबन्ध में मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करते हैं कि चाणक्य ने ग्रामीणवासियों के कल्याण के लिए अनेक व्यवस्थाएँ निर्धारित की हैं ।[3] चाणक्य काल में नगर कम गाँव अधिक थे । वस्तुतः चाणक्य के समाज-दर्शन की यह विशेषता है कि उसमें ग्राम, नगर, जनपद और राष्ट्र के विकास के लिए राज्य को सबसे अधिक उत्तरदायी माना गया है । राज्य

---

1. किंग्सले डेविस, ह्यूमन सोसायटी
2. मैकाइवर, सोसायटी
3. डा०ए०आर०वाडिया, हिस्ट्री एण्ड फिलॉसफी ऑफ सोशल वर्क इन इण्डिया, पृ० 18

या राजा को धर्म के अनुशासन के अन्तर्गत रखा गया है । इस प्रकार धर्म और राज्य संयुक्त रूप से सामुदायिक जीवन को भी नियन्त्रित और निर्देशित करते हैं । यों वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था और राज्य -व्यवस्था समस्त प्रकार के समुदायों के विकास के लिए हैं । लेकिन प्रत्येक सामुदायिक क्षेत्र की भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ हैं । यहाँ पर क्षेत्र में सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई ग्राम के संगठन और कार्यों के सम्बन्ध में चाणक्य के विचारों को प्रस्तुत किया जाएगा ।

आधुनिक युग में समाज-कल्याण, सामाजिक कार्य, सामुदायिक संगठन, आदि अनेक नए शास्त्रों का उदय हो गया है जो गाँव के विकास और उन्नयन सम्बन्धी कार्यक्रमों पर विचार करते हैं । चाणक्य बहुत प्रगतिशील और दूरदर्शी चिन्तक थे । उन्होंने उस समय गाँव के विकास के लिए योजनाएँ बनाई थीं । योजना की दृष्टि से उन्होंने विकास की सुविधा के लिए भूभागों को कई क्षेत्रों में विभक्त किया था और उनके कई नामकरण किए थे । उनके विकास की बड़ी इकाई जनपद और सबसे छोटी ग्राम थी । जनपद में कम से कम 200 घर और अधिक से अधिक 500 घर । इन जनपदों में शूद्र और किसान सब हों । एक गाँव दूसरे से दो कोस से अधिक दूर नहीं होना चाहिए ।"[1] उनके अनुसार किसानों को कृषि-कार्य के लिए प्रोत्साहित करने के लिए अन्न, बीज, धन, बैल आदि देकर सहायता करें । राजा कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए जलाशय, बाँध, नहरों आदि का निर्माण कराए । राज्य ग्रामीणों के स्वास्थ्य सुधार के लिए व्यवस्था करें । राजा को चाहिए कि बालक, वृद्ध, व्याधि-ग्रस्त, विपत्ति-पीड़ित और अनाथ व्यक्तियों का भरण पोषण करे । सन्तानहीन और गर्भवती अनाथ स्त्रियों उनके बच्चों की राजा रक्षा करें । जो व्यक्ति समर्थ होते हुए भी अपने आश्रितों का भरण-पोषण न करें, तो राजा उसे दण्डित करें । यदि कोई व्यक्ति अपनी स्त्री-पुत्रों के जीवन-निर्वाह

---

1. शूद्र कर्षक ------- स्थापयेत् / 17/1/2

की उचित व्यवस्था किए बिना संन्यास ग्रहण करें, तो राजा उसे दण्डित करें। वह शत्रु, जंगलियों, व्याधि, दुर्भिक्षों से जनता को बचाए।-चाणक्य

कहते हैं कि बेगार, अधिक कर आदि के कारण कृषि कर्मों को क्षति नहीं पहुंचनी चाहिए। उत्पादित वस्तुओं की बिक्री के लिए जल-थल मार्ग, बाजारों आदि का निर्माण कराए। चाणक्य एक महत्वपूर्ण बात यह कहते हैं कि गांव में नाट्य-गृह, विहार, क्रीड़ा-शालाएं न होनी चाहिए। नट, नर्तक, गायक, वादक, भांड़ आदि गांव में अपना खेल दिखाकर किसानों का समय नष्ट न करें।[1]

चाणक्य के उपर्युक्त ग्राम-कल्याण विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक युग के कल्याणकारी राज्य की संकल्पना की तरह से आचार्य चाणक्य भी चिन्तन कर रहे थे। उनका मत है कि राजा जनता के सुख और समृद्धि के लिए अधिकतम प्रयास करें। यदि राज्य साधन सम्पन्न होगा, तो जनता की समृद्धि होगी।[2] और वह जनता के विकास के लिए अच्छे कार्य कर सकेगी।

आचार्य चाणक्य अनेक स्थलों पर सामान्य जन को अर्थ और उत्पादन की महत्ता बताते हुए कहते हैं, जैसे-मनुष्य अपने को अमर मानकर जीवन-पर्यन्त अर्थ न करता रहे।[3] अर्थात् अर्जन को कभी न बन्द करें, क्योंकि दरिद्रता जीवित मनुष्य को भी मृतवत बना देती है।[4] लेकिन केवल धनार्जन की ही बात नहीं कहते हैं बल्कि उन मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए भी प्रयत्नशील हैं जिनसे

---

1. शुक्रनीति ---------- प्रवर्तयेत् की0अ0/17/1/3
2. अर्थसम्पदं प्रकृति सम्पदं करोति/चा0सू0 11
3. अमरवदर्थमातमार्जयेत् /चा0सू0 254
4. दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणम् /चा0सू0257

[88]

समाज-कल्याण में अभिवृद्धि होती है । वह कहते हैं "धर्म ही सत्य तथा दान दोनों का मूल है ।"[1] इसी प्रकार उन समस्त गुणों को महत्वपूर्ण बताते हैं जिनसे सामाजिक चेतना के विकास में सुविधा होती है, जैसे- परोपकार, अहिंसा, दया, आदि । विश्व के विख्यात समाज वैज्ञानिक डा०ए०आर० वाडिया ने समाज-कल्याण और सामाजिक कार्य के दर्शन की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह मूलरूप से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित है । इसका लक्ष्य सच्चे अर्थों में मानवता के प्रति अनन्य प्रेम है ।"[2]

इस दृष्टि से आचार्य चाणक्य समाज-कल्याण के विश्व के प्रमुख प्रवर्तकों के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं ।

---

1. धर्ममूले सत्यदाने / चा०सू०237
2. डा०ए०आर०वाडिया, हिस्ट्री एण्ड फिलॉसफी ऑफ सोशल वर्क इन इण्डिया, पृ० 3

अध्याय-7

"चाणक्य सूत्राणि" का राज-दर्शन

समाज-दर्शन समाज की महत्वपूर्ण संस्थाओं का अध्ययन करता है । इनमें राज्य समाज की सर्वोपरि संस्था है । राज्य पर अति प्राचीन काल से विद्वानों ने विचार किया है । भारत में भी वैदिक काल से राज-व्यवस्था के सम्बन्ध में अनुचिन्तन हो रहा है, तथा इस सम्बन्ध में अनेक मतों और सिद्धान्तों का विकास हुआ है । आधुनिक युग में पश्चिमी विद्वानों ने भी बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है, तथा इस विषय का अनेक शाखाओं-उपशाखाओं में विभाजन हुआ है, जिनमें राजनीतिशास्त्र (पॉलिटिकल साइन्स), राजनीति-दर्शन (पॉलिटिकल फिलॉसफी), राजनीति (पॉलिटिक्स), राजनैतिक समाज शास्त्र (पॉलिटिकल सोशियोलॉजी), राजनैतिक अर्थशास्त्र (पालिटिकल एकॉनॉमिक्स), दण्डशास्त्र (क्रिमिनोलॉजी), कानून शास्त्र, आदि प्रमुख हैं । आचार्य चाणक्य ने अपने "अर्थशास्त्र[2]" और "चाणक्य सूत्राणि" में इन समस्त विषयों पर किसी न किसी रूप में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं ।

1. चाणक्य तथा राजनीति-दर्शन आदि

राजनीति शास्त्र की अनेक परिभाषाएं की गई हैं, जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं । ब्रिटिश विद्वान् गार्नर ने राज्य विज्ञान की परिभाषा करते हुए लिखा है, " राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है, जिसका राज्य से सम्बन्ध है, जो राज्य की आधारभूत स्थितियों, उसकी प्रकृति तथा विविध रूपों एवं विकास को समझने का प्रयत्न करता है ।" जर्मन विद्वान् गैरिस का मत है, " राज्य-विज्ञान राज्य को एक सत्ता-संस्था के रूप में मानता है । वह राज्य के सम्बन्धों, उसकी उत्पत्ति, उसकी भूमि एवं प्रजा, उसके

---

1. डा०डब्लू०गार्नर, पॉलिटिक्स, साइंस एण्ड गवर्नमेण्ट, पृ० 1 से 13
2. के०पी०जायसवाल, हिन्दू-राज्यशास्त्र, भाग 1 और

नैतिक महत्व, उसके जीवन की अवस्थाओं तथा आर्थिक एवं राजस्व सम्बन्धी समस्याओं और उसके साध्य आदि की विवेचना करता है ।" गार्नर का कहना है कि परिवार, जाति, राष्ट्र तथा सभी वैयक्तिक संस्थाओं एवं समूहों से भिन्न राज्य ही, जो अपने विविध पहलुओं तथा सम्बन्धों में व्यक्त होता है, राज्य-विज्ञान का विषय ।[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि राजनीति-शास्त्र एक विशेष प्रकार का सामाजिक विज्ञान है, जो मनुष्य के उस राजनैतिक जीवन पर विचार करता है जो सम्पूर्ण सामाजिक-जीवन का अंग है ।[2] इसके अध्ययन की इकाई राज्य है । यह समाज की एक विशेष संगठित-राजनैतिक इकाई में ही रुचि रखता है । यह राज्य के सिद्धान्तों, विकास, उद्देश्य और राजनैतिक जीवन के कार्यों का अध्ययन करता है ।[3]

दूसरी अवधारणा राजनैतिक दर्शन[पॉलिटिकल फिलॉसफी] है । यह विज्ञान राज्य के आधारभूत सिद्धान्तों और उसकी प्रमुख विशिष्टताओं पर विचार करता है । यह मुख्यतः सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक नहीं अर्थात् इसमें राज्य की व्यावहारिक समस्याओं का सम्बन्ध कम होता है । राजनीति-दर्शन की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जे०एस०हॉलैण्ड ने कहा है, "राजनीतिदर्शन का सम्बन्ध राजनैतिक संस्थाओं से उतना अधिक नहीं है जितना उन विचारों और आकांक्षाओं से जो इन संस्थाओं में सन्निहित हैं । राजनीति दर्शन राज्य की मूलभूत समस्याओं पर विचार करता है ।"

तीसरा शब्द राजनीति है । यह सामान्य बोलचाल का शब्द है, वैज्ञानिक या शास्त्रीय नहीं । इसका अर्थ राजनीति का व्यावहारिक पक्ष है ।

---

1. जे०डब्ल्यू०गार्नर, पॉलिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेण्ट, पृ० 5
2. गेटेल एण्ड मूर, एन इन्ट्रोडक्शन टु पोलियोलॉजी, पृ० 704
3. टामसमोर, पॉलिटिकल सोसियोलॉजी, पृ० 3

यह राज्य के क्रियाशीलता से सम्बन्धित है । गार्नर के शब्दों में राजनीति शब्द का अर्थ राज्य के कार्य-कलापों के उस भाग तक सीमित है जो दैनिक गतिविधि के संचालन से सम्बन्ध रखता है । सामान्य बोलचाल में इसका अर्थ धोखेबाजी, बेइमानी, झूठ फरेब, आदि भी है ।[1]

राजनीति से सम्बन्धित एक विषय राजनैतिक समाज शास्त्र है। इस शास्त्र के समर्थकों का मत है कि राज्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है । राज्य का जन्मदाता समाज है और समाज का संरक्षक राज्य है । राज्य समाज को प्रभावित करता है और समाज राज्य से प्रभावित होता है, अतः राज्य का अध्ययन समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए । इसी दृष्टिकोण के कारण राजनैतिक समाज शास्त्र का विकास हुआ है । लेविस कोजर के अनुसार, " राज-समाज शास्त्र समाजशास्त्र की वह शाखा है जो समाज के अन्तर्गत समाजों के मध्य शक्ति-वितरण के कारणों एवं परिणामों तथा सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों, जिसके फलस्वरूप शक्ति के विनियोजन में परिवर्तन होता है, का अध्ययन करता है।"[2] हेन्डीक्स और लिप्सेट के अनुसार, "राज-समाजशास्त्र का प्रारम्भ समाज से होता है, तथा यह जानना चाहता है कि यह किस प्रकार राज्य को प्रभावित करता है ।"[3]

प्राचीन काल में राजनीति और अर्थशास्त्र एक ही विषय के अन्तर्गत आते थे । कौटिल्य का "अर्थशास्त्र" तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्र इसके उदाहरण हैं । इनमें अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही राजनीति शास्त्र का विवेचन हुआ है । पश्चिम में भी राजनीतिक अर्थशास्त्र [पॉलिटिकल एकनॉमिक्स]

---

1. जे०डब्लू०गार्नर, पॉलिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेण्ट , पृ02
2. एस०एम०कोजर, पॉलिटिकल सोशियोलॉजी, पृ० 5
3. वही

के अन्तर्गत ही राजनीति शास्त्र को रखा जाता था । एडमस्मिथ, मैकियावली, लॉक हेडीस्म ने अपने ग्रन्थों में राजनीति और अर्थशास्त्र का संयुक्त विवेचन किया है । सेलिगमैन ने कहा है कि शासन के रूप तथा कार्यों पर उत्पादन तथा वितरण की स्थिति का व्यापक प्रभाव पड़ता है । राजनीतिक घटनाएं आर्थिक कारणों का ही प्रभाव हैं । दण्ड-शास्त्र और विभिन्न प्रकार के कानूनों का विवेचन भी राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत होता है । प्राचीन भारत के अनेक विद्वानों के दण्ड -शास्त्र को इतना महत्व दिया है कि यह राजनीतिशास्त्र का पर्यायवाची हो गया है ।[1]

राजनीति से सम्बन्धित उपर्युक्त विभिन्न संकल्पनाओं के सम्बन्ध में जब हम चाणक्य के राजनैतिक चिन्तन का परीक्षण करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि चाणक्य के विराट चिन्तन में राजनीति के विभिन्न पक्षों का समाहार था । आधुनिक युग में राजनीतिशास्त्र को एक विज्ञान माना जाता है । विज्ञान का आशय है कि सूक्ष्म परीक्षण-निरीक्षण के द्वारा जो निष्कर्ष प्राप्त हों, उनको क्रमबद्ध और तर्क पूर्ण भाषा में व्यक्त किया जाए । चाणक्य के राजनीति सम्बन्धी विचार प्रमुख रूप से "कौटिलीय अर्थशास्त्र" और "चाणक्य सूत्राणि" में मिलते हैं । उन्होंने राजनीति के व्यावहारिक पक्ष का केवल अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि अनुभव भी प्राप्त किया था । बहुत बड़े साम्राज्य के निर्माण में उनका योगदान था, इसलिए राज की कोई ऐसी समस्या न थी जिसे उन्होंने सूक्ष्म से देखा न हो और उस पर चिन्तन न किया हो । सम्भवतः राज्य और शासन का इतना व्यावहारिक अनुभव आज के युग के आधुनिक राजशास्त्रियों को भी बहुत कम होगा । इस दृष्टि से आचार्य चाणक्य आधुनिक अर्थों में राजनीति शास्त्री कहलाने के पूर्ण अधिकारी हैं ।[2]

---

1. डा० के० सी०. वंसल, हिन्दू-राज्यशास्त्र, पृ० 135
2. चार्ल्स ड्रेकमेयर, किंगशिप एण्ड कम्युनिटीइनऑर्ड इण्डिया

"कौटिलीय अर्थशास्त्र" सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के विचारों का ग्रन्थ है । लेकिन "चाणक्यसूत्राणि" में राजनीति के सिद्धान्तों का विशेष विवेचन है । इसमें उन विचारों का प्रतिपादन है, जिनका अनुसरण करने से राज-व्यवस्था आदर्श रूप में संचालित हो सके । इस आधार पर हम उन्हें राजनैतिक दर्शन का महान् आचार्य कहने में गौरव अनुभव करते हैं ।[1]

आधुनिक अर्थों में आचार्य चाणक्य राजनैतिक समाज शास्त्री भी हैं, क्योंकि उनकी राजनीति के सिद्धान्त पूर्ण रूप से समाज-निर्माण और कल्याण से सम्बन्धित हैं । वह राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा का पालन और वर्णाश्रम व्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन मानते हैं ।

ऊपर की पंक्तियों में हम यह कह चुके हैं कि चाणक्य अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही राजनीति को मानते हैं,[2] इसीलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ "अर्थ-शास्त्र" में राज-व्यवस्था का सर्वाधिक विवेचन किया है । इस आधार पर हम आचार्य चाणक्य को राजनैतिक अर्थशास्त्री या राजनीतिक अर्थशास्त्र (पॉलिटिकल एकॉनॉमी) का आचार्य कह सकते हैं ।

आचार्य के ग्रन्थों में दण्ड और कानून का विस्तृत विवेचन है । इस प्रकार से हम आचार्य चाणक्य को एक ऐसा महान राजनैतिक चिन्तक के रूप में पाते हैं जिसमें राजनीति के समस्त आयामों के समन्वय करने की विलक्षण क्षमता थी । इस अध्याय के अगले पृष्ठों में उनकी इसी महान् विचार-राशि का विश्लेषण करने का प्रयास किया जायगा ।

---

1. बी०के०सरकार, पॉज़िटिव बैकग्राउण्ड ऑफ हिन्दू सोशियोलॉजी, पृ०36।
2. यू०एन०अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट [illegible] इन एन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० 3

1. राज्य का स्वरूप

आचार्य चाणक्य ने राज्य की परिभाषा तो नहीं की है, परन्तु राज्य के तत्वों का विस्तृत विवरण दिया है । इससे उनकी राज्य की अवधारणा का निश्चित बोध होता है । वह राज्य के तत्वों को प्रकृतियों के नाम से उल्लेख करते हैं । उनके अनुसार राज्य की सात प्रकृतियां या तत्व हैं —

1. स्वामी 2- आमात्य 3- जनपद 4- दुर्ग 5- कोश 6- दण्ड 7-मित्र ।[1]

यहाँ स्वामी का आशय राजा है । अमात्य का अर्थ उच्च अधिकारी है । जनपद भू-भाग को कहते हैं । दुर्ग और कोश स्पष्ट हैं । दण्ड के अन्तर्गत सेना आती है । मित्र का आशय वे राज्य जो शत्रु नहीं अर्थात् मित्र हैं । इन सात तत्वों के आधार पर राज्य के संगठन के सिद्धान्त को सप्ताङ्ग सिद्धान्त कहते हैं । चाणक्य के बाद भी अन्य आचार्यों ने इस सप्ताङ्ग सिद्धान्त का समर्थन किया ।[2]

पश्चिमी विद्वान भी राज्य का स्वरूप इसी प्रकार का बताते हैं । राजनीति शास्त्र के विद्वान् गार्नर ने राज्य के केवल चार तत्व बताए हैं :- 1- जनसंख्या, 2- भू-भाग, 3- सरकार, 4- प्रभुसत्ता/ गार्नर ने राज्य की परिभाषा करते हुए कहा," राज्य मनुष्यों के उस विशाल समुदाय को कहते हैं जो स्थायी रूप से किसी निश्चित भू-भाग पर रहता है, जो किसी बाहरी नियंत्रण से पूर्णतया मुक्त है, या स्वतंत्र होने की है और उसकी एक संगठित सरकार है, जिसकी आज्ञा सम्पूर्ण जनसमुदाय के अधिकांश लोग स्वभावतः मानते हैं ।"[3]

---

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र 96/1
2. डे०सी०घोष, हिन्दू राज्यशास्त्र, पृ० 37 से 45
3. जे०डब्लू०गार्नर, पॉलिटिकल साइंसएण्ड गवर्नमेन्ट, पृ० 43

चाणक्य की राज्य की अवधारणा पश्चिमी अवधारणा की तुलना में अधिक पूर्ण और स्पष्ट है । उन्होंने राजा के जो अधिकार और कर्तव्य बताएँ है, उसमें प्रभुसत्ता और सरकार का भाव निहित है । जनपद उसी भू-भाग को मानते है जिसमें जनसंख्या हो, शेष अन्य तत्व प्राचीन युग की आवश्यकताओं के अनुरूप स्पष्ट किए गए है । आधुनिक युग में राज्य की संकल्पना में कोष, सेना, दुर्ग आदि स्वयं समाहित मान लिए जाते है ।

आचार्य चाणक्य का मत है कि राज्य के तत्वों का यह सप्तांग सिद्धान्त शरीर के अंकों के समान है । जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग मिल कर शरीर का रक्षण और पोषण करते है, उसी प्रकार राज्य के सात अंग मिलकर राज्य के विकास और रक्षा में सहायक होते है । डा० बेनी प्रसाद ने इस संबंध में कहा है कि राज्य की अवधारणा में एक निश्चित मात्रा में सावयवी एकता के तत्व तथ्यों पर आधारित है । राज्य सात अंग वाला कहा जाता है जो अपना अलग - अलग कार्य करते हुए अन्तिम रूप से मिलकर कल्याणकारी कार्य करते है ।

चाणक्य का यह सप्तांग सिद्धान्त पश्चिम के सावयवी सिद्धान्त (आर्गेनिक थ्योरी) के समान है । पश्चिमी विद्वानों ने भी राज्य की तुलना शरीर से की है । इनमें प्लेटो, सिसरो, हॉब्स, बलन्ट सिली, हर्बर्ट स्पेन्सर, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है ।[1] यह कहना अनुचित न होगा कि यह सब विचारक कौटिल्य के बाद के है । कौटिल्य ने इनसे पहले ही यह पुष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित किया ।

पश्चिमी राजनीति - दर्शन में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाए है तथा कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए है, जैसे - राज्य की

---

1. आर० जी० गेटेल, पॉलिटकल साईंस, पृ० 110 से 112

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, सामाजिक समझौते का सिद्धान्त आदि । चाणक्य यर्थार्थवादी चिन्तक थे । उन्होंने इन अनुमानों और कल्पनाओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया और इस सम्बन्ध में कोई नई कल्पना प्रस्तुत नहीं की ।[1] लेकिन यदि उनके समग्र चिन्तन से कोई अनुमान लगाना हो, तो यह कहा जा सकता है कि वह शक्ति और समझौते दोनों को राज्य की उत्पत्ति में सहायक मानते हैं, क्योंकि उनके समग्र चिन्तन में इन दोनों तत्वों का विवेचन मिलता है । इस पर हम इसी अध्याय के अगले पृष्ठों पर विचार करेंगे ।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त यह कहता है कि राज्य का निर्माण ईश्वर ने किया था । ईश्वर ने कुछ व्यक्तियों को शासन के लिए नियुक्त किया और शेष व्यक्तियों को आज्ञा पालन के लिए नियुक्त किया । अतः राज्य का कानून तोड़ना ईश्वराज्ञा का उल्लंघन करना है ।

शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार राजा का जन्म शक्ति से हुआ । इस प्रकार निर्बलों पर सबलों के शासन ने राज्य को जन्म दिया ।[2]

यूरोप में सर्वप्रथम ग्रीक विचारकों ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को माना । राज्य का प्रादुर्भाव प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप हुआ । प्लेटो और अरस्तू ने प्रतिपादित किया कि राज्य कृत्रिम नहीं बल्कि प्राकृतिक और स्वाभाविक है ।[3]

---

1. चार्ल्स ड्रेकमेयर, किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इण्डिया, पृ० 193
2. प्रो० एम०एस०पाण्डेय, नागरिक शास्त्र का क.ख.ग, पृ०
3. डा०आर०एन० शर्मा, राजनैतिक समाजशास्त्र, पृ० 121

पश्चिमी विद्वान चार्ल्स ड्रेकमेयर ने लिखा है कि आचार्य चाणक्य ने इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया । इस कथन में कुछ सत्यांश है, चाणक्य ने प्रत्यक्ष रूप से इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट मत व्यक्त नहीं किया, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इस विषय में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । "अर्थशास्त्र" में एक स्थान पर चाणक्य कहते हैं, "कि" जैसे छोटी मछली बड़ी को खा जाती है, पुरातन काल में जैसे ही इससे बचने के लिए प्रजा ने मनु को अपना राजा नियुक्त किया और तभी से खेती से उपज का छठा भाग, व्यापार से आमदनी का दसवाँ भाग तथा थोड़ा सा स्वर्ण राजा के कर के रूप में निर्धारित कर दिया था । इस निर्धारित भाग को पाकर राजा ने प्रजा के योगक्षेम का सारा दायित्व अपने ऊपर लिया । इस प्रकार दण्ड और कर प्रजा के उत्पीड़न को दूर करने में सहायक होते हैं । यही कारण है कि जंगल में एकान्त जीवन बिताने वाले ऋषि-मुनि भी दाना-दाना करके बीने हुए अन्न का छठा भाग राजा को देते हैं, यह समझकर कि राजा इसके बदले में हमारी रक्षा करता है । जो राजा का तिरस्कार करता है, निश्चय ही, उस पर ऐसी विपत्तियाँ टूटती हैं । इन्हीं कारणों को दृष्टि में रखकर राजा का अपमान नहीं करना चाहिए ।"[1]

"चाणक्य सूत्राणि" में भी कहा गया है कि राजा से श्रेष्ठ कोई देव नहीं ।[2] अन्य अनेक स्थलों पर राजा की आज्ञा पालन करने पर विशेष बल दिया गया है, जैसे-व्यक्ति राजद्रोहन करे ।[3] राजा के कोप से कोई बच नहीं सकता ।[4] इससे प्रतीत होता है कि चाणक्य भले ही पूर्व और

---

1. मात्स्य - - - - - - दण्डः स्मृतिः/कौ0अ08/12/3
2. न राज्ञः परं दैवतम् / चा0सू0 372
3. राज्ञः प्रतिकूलं नाचरेत् / चा0सू0 65
4. सुदूरमपि दहति राजवन्हिः/चा0सू0 373

पश्चिम में प्रचलित दैवी सिद्धान्त को न मानते हों, लेकिन राजा को देव रूप में प्रतिष्ठित करने का समर्थन अवश्य करते हैं । यह भी निश्चित है कि वह यह सब तर्क उस राजा के लिए देते हैं जो धर्मनिष्ठ, प्रजापालक और कर्तव्य परायण है । यदि राजा अयोग्य और मूर्ख है, तो वह किसी स्थिति में उसका समर्थन नहीं करते हैं । "चाणक्य सूत्राणि" में उन्होंने कहा है कि यदि राजा अयोग्य है, तो उससे किसी का कल्याण नहीं होता । ऐसी स्थिति में राजा न हो तो अच्छा है । जनता को बिना राजा के पंचायती या गणतंत्रीय व्यवस्था करके शासन स्वयं संचालित करना चाहिए ।[1] "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में भी कहा गया है कि यदि राजा के पुत्र योग्य न हों तो उनको शासन नहीं सौंपना चाहिए । यदि कई पुत्र हों और उनमें राज्य का संचालन करने की किसी एक में क्षमता न हो, तो वे सब सम्मिलित रूप से सामुदायिक ढंग से राज्य का संचालन करें ।[2]

इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि चाणक्य दैवी सिद्धान्त और सम्मोता सिद्धान्त दोनों को शासन संचालन का साधन मात्र मानते हैं, साध्य नहीं । परिस्थिति के अनुसार सिद्धान्त के उपयोग को बताकर अपनी व्यवहारिकता का परिचय देते हैं ।

तीसरा शक्ति सिद्धान्त है । इसमें शक्ति और दण्ड का सबसे अधिक उपयोग होता है । इस दृष्टि से आचार्य इतने भी समर्थक प्रतीत होते हैं, क्योंकि वह अर्थशास्त्र में कहते हैं कि राजा की दण्ड-व्यवस्था से रक्षित चारों वर्णाश्रम, सारा लोक, अपने-अपने धर्मकर्मों में प्रवृत्त होकर निरन्तर अपनी-अपनी मर्यादा पर बने रहते हैं ।[3]

---

1. अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभःश्रेयान्/चा0सू014
2. कुलस्य वा भोद्राज्यं कुलस्यो हि दुर्जयः/कौ0अ012/16/3
3. चतुर्वर्णाश्रमों लोको राज्ञा दण्डेन पालितः/
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु /कौ0अ01/3/2

"चाणक्य सूत्राणि" में भी कहते हैं कि राजा दण्डनीति का अधिष्ठाता रहकर ही प्रजा का संरक्षण करने में समर्थ होता है ।[1] दण्ड ही राजा को समस्त सम्पत्तियों से युक्त बनाता है ।[2] लेकिन चाणक्य दण्ड को सर्वस्व नहीं मान लेते हैं, वह राज्य के साधन को भी परिसीमित कर देते हैं । "अर्थशास्त्र" में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो जाते हैं, किन्तु दण्ड में ढिलाई देने से भी लोक, राजा की अवहेलना करने लगता है, इसलिए राजा को समुचित दण्ड देने वाला होना चाहिए ।[3] "चाणक्य सूत्राणि" में भी इसी मत का समर्थन है वह कहते हैं कि दण्ड का प्रयोग सोच समझकर किया जाना चाहिए ।[4] दण्डदाता के मन में व्यक्तिगत द्वेष या रोष आ जाने से दण्ड के कठोर हो जाने पर वह न्यायाधीश के पवित्र आसन से पतित होकर जनता का द्वेष भाजन बन जाता है ।[5] इससे प्रतीत होता है कि चाणक्य राज्य की उत्पत्ति में केवल शक्ति या दण्ड को ही महत्व नहीं देते हैं । इनके मतों से एक अनुमान लगाया जा सकता है कि वह निर्णायक वादी नहीं हैं — किसी एक तत्व को राज्य की उत्पत्ति का कारक नहीं मानते हैं । सम्भवतः वह समुच्चयकारक वादी सिद्धान्त के समर्थक हैं ।

---

1. दण्डनीतिमधिष्ठिता प्रजाः संरक्षति/चा०सू० 79
2. दण्डः सम्पदां योजयति/चा०सू० 80
3. तीक्ष्णदण्डो ——— जयति/कौ०अ०1/3/4
4. दण्डो हि विद्वाने प्रणीयते / चा०सू० 86
5. दण्डपातस्थाने सर्वजन द्वेष्यो भवति/चा०सू० 76

2. राजा के गुण

सरकार तीन प्रकार की होती है :-1- एकतंत्रात्मक 2-कुलीन-तंत्रात्मक या अल्पतंत्रात्मक तथा 3- प्रजातंत्रात्मक । चाणक्य ने तीनों प्रकार की सरकारों के गुण-दोषों के सम्बन्ध में विचार किया है, किन्तु अधिकांशतः उनका समर्थन एकतंत्रात्मक सरकार के प्रति प्रतीत होता है । उनके "अर्थशास्त्र" और "चाणक्यसूत्राणि" में दोनों ग्रन्थों में एकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था अर्थात् राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में अधिक विचार व्यक्त किए गए हैं । जैसा ऊपर कह जा चुका है कि वह इस सम्बन्ध में राजा को दैवी अधिकार नहीं प्रदान करते हैं, वह राजा को प्रजा के पालक और रक्षक के रूप में देखते हैं । एक राजा के लिए जो योग्यताएँ निर्धारित करते हैं उससे उनकी राजत्व की संकल्पना का सहज में बोध हो जाता है :—

" मुण्डन संस्कार के बाद वर्ण-माला, अंकमाला का अभ्यास करें । उपनयन के बाद सदाचारी विद्वान् आचार्यों से त्रयी तथा आन्वीक्षकी, विभागीय अध्यक्षों से वार्ता और वक्ता-प्रयोक्ता विशेषज्ञों से दण्डनीति की शिक्षा ग्रहण करें । सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करें । तदनन्तर समावर्तन संस्कार और विवाह करें । विवाह के बाद अपने विनय वृद्धि के लिए सदा ही विद्यावृद्ध पुरुषों का साथ करें, क्योंकि सारी शिक्षा उन्हीं पर निर्भर है ।"[1] आचार्य चाणक्य शास्त्र शिक्षा को बहुत महत्व देते हैं । वह कहते हैं," अन्धशास्त्र| जिस राजा ने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया | और चलितशास्त्र|शास्त्रों का अध्ययन करके भी तदनुसार आचरण न करने वाला|, इन दोनों में कौन सा राजा प्रजा के लिए अधिक कल्याण प्रद है? इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों का कहना है कि शास्त्र रूपी चक्षुओं से हीन अंधा राजा बिना विचारे ही कार्य करने वाला, हठबुद्धि, दुष्कर्मरत होकर अन्याय से राज्य को नष्ट कर डालता है ।

---

1. वृत्तचौलकर्मा ----- विनयस्थ/कौ0अ02/4/4-5

उसकी अपेक्षा चलित शास्त्र राजा को शास्त्र विरुद्ध आचरण करने पर अनुनय विनय के द्वारा रोका जा सकता है । इसलिए अन्धशास्त्र से चलित शास्त्र राजा उत्तम है ।" [1]

"वाणक्य सूत्राणि" में राजा की सबसे बड़ी विशेषता राजा का इन्द्रियों पर नियंत्रण होना माना गया है । वाणक्य कहते है कि इंद्रियों को जीतने वाला राजा चिरकाल तक स्थायी रहता है । इंद्रिय - विषय से राजा में विनय का भाव आता है और विनय से वह अपने से अधिक अनुभवी लोगों का प्रेम अर्जित करता है, जिससे उसके ज्ञान और विज्ञान में वृद्धि होती है, फलतः उसमें स्वतः ऐसे गुणों का विकास होता है जिससे योग्य शासक बनने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है ।[2] राजा को अनेक दोषों से मुक्त रहने का निर्देश देते है, जैसे-कामासक्ति, जुआ, शिकार आदि ।[3] राजा के लिए कर्मठ होना अनिवार्य मानते है । उसे सदा इस बात के लिए सचेष्ट रहना चाहिए कि राज्य के आर्थिक साधनों में सदा वृद्धि होती रहे । न्याय, दया, क्षमा आदि गुणो को भी राजा के लिए आवश्यक मानते है । अर्थशास्त्र में भी वह कहते है, "इस प्रकार इंद्रियों को वश में करता हुआ राजा पराई स्त्री, पराया धन और प्रवृत्ति को सर्वथा त्याग दे । छलमय अयन करना, चंचलता, झूठ बोलना, अविनीति वृत्ति बनाए रखना, इस प्रकार के आचरणों और इस प्रकार के आचरण वालों की संगति छोड़ दें । उसे चाहिए कि अधर्माचरण और अनर्थकारी व्यवहार का भी परित्याग कर दें ।" [4]

---

1. अन्यचलित शास्त्रों --------अवतीताचार्याः /कौ0अ0 128/2/1
2. राज्यमूलमिन्द्रियजयः/इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः/नियस्य मूलं वृद्धोपसेवा/वृद्धसेवाया विज्ञानम्/विज्ञानेनात्मानं संपादयेत् । सम्पादितात्मा जितात्मा भवति/जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्येत । अर्थसम्पद् प्रकृतिसंपदं करोति/चा0सू0 4-11
3. दुर्बलाज्यो दुःखमावहति/चा0सू0 63
4. एवं वशेन्द्रियः ---------व्यवहारम्/ कौ0अ0 3/6/2

उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि चाणक्य आदर्श व्यक्तित्व के समस्त गुण राजा में चाहते हैं। वह कहते हैं कि किसी राजा के उत्तराधिकारी में यदि यह गुण न हों तो उसे राज्य पद नहीं देना चाहिए। यदि राजा के कई पुत्र हैं और उनमें ~~कोई~~ उपर्युक्त योग्यताओं वाला कोई एक पुत्र नहीं है तो सब मिलकर शासन व्यवस्था देखें और यदि वे पुत्र सामान्य प्रशासन चलाने योग्य भी नहीं है तो जनता स्वयं पंचायती व्यवस्था से शासन संचालित करे। इससे यह प्रतीत होता है कि चाणक्य एक तंत्र में वरिष्ठता या ज्येष्ठता के आधार पर किसी को शासन का अधिकार नहीं प्रदान करते। उनका एक मात्र मापदण्ड योग्यता है। यदि शासक उपर्युक्त योग्यताओं से वंचित है, तो उनके लिए राजतंत्र या एकतंत्र निरर्थक है।

3. राजा के कर्तव्य

राजनीति शास्त्र के आधुनिक विद्वान लार्ड ब्राइस ने राजा के निम्नांकित कर्तव्य बताए हैं :—

1. विदेशी आक्रमण से देश की सुरक्षा।
2. हिंसा, गृह-युद्ध, विद्रोह आदि की रोकथाम रखते हुए आन्तरिक शान्ति स्थापित रखना।
3. न्याय, अर्थात् समाज में अनुचित कार्य करने वालों को दण्ड देना।
4. जनता के अधिक - से-अधिक हित तथा कम-से-कम व्यय के साथ समाज के सामान्य कार्यों का कुशल प्रशासन करना।
5. नागरिकों को उनके व्यवसाय में सहायता करना परन्तु यह कार्य इस प्रकार पूर्ण करना कि व्यक्ति की स्वतंत्रता को आघात न पहुंचे।

आर०एम० मैकाइवर ने राज्य के कार्यों को तीन भागों में बांटा है —1— व्यवस्था, 2- सुरक्षा, तथा 3— विकास।[1]

---

1. आर०एम०मैकाइवर, दिवेब आफ गवर्नमेण्ट, पृ० 314-359

उडरो विल्सन ने राज्य के कार्य दो भागों में विभक्त किए है, पहला अनिवार्य दूसरा ऐच्छिक । अनिवार्य में वह आठ कार्य बताते है और ऐच्छिक में दस । सामान्य रूप से आधुनिक राजनीतिशास्त्री इसी वर्गीकरण को स्वीकार करते है । अनिवार्य कर्तव्यों के अन्तर्गत पाँच प्रकार के कार्य है :-

(1) बाहरी आक्रमण से देश की सुरक्षा,

(2) आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था,

(3) नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा

(4) न्याय,

(5) कुटुम्बों के बीच सम्बन्ध स्थिर करना ।

ऐच्छिक कार्य इस प्रकार है । 1. शिक्षा, 2. स्वास्थ्य, 3. वृद्ध, निर्धन तथा असहायों की रक्षा, 4. जनहित की सेवाओं की व्यवस्था, 5. सामाजिक और आर्थिक सुधार, 6. यातायात के साधन, 7. व्यापार और उद्योगों का संचालन , 8. श्रम का संचालन, 9. मनोरंजन के साधन, 10. राष्ट्र के प्राकृतिक स्रोतों का उपयोग ।

आचार्य चाणक्य ने राजा के जिन कर्तव्यों का उल्लेख किया है, उनमें लगभग ये समस्त ऐच्छिक और अनिवार्य कार्य आ जाते है । क्योंकि राजा समस्त कार्य अकेले नहीं कर सकता है, इसलिए चाणक्य ने यह व्यवस्था की है कि राजा सुयोग्य मंत्रियों और कर्मचारियों की सहायता से अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करें । उन्होंने प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य के लिए एक विभाग बनाने का निर्देश दिया है ।

डा० के०पी० जायसवाल का मत है कि चाणक्य ने राज्य के अंतर्गत अठारह विभागों की व्यवस्था की है, जिनके नाम इस प्रकार है । 1. मंत्री, 2. पुरोहित 3. सेनापति-सेना विभाग का मंत्री, 4. युवराज, 5. दौवारिक-राजप्रसाद का प्रधान अधिकारी, 7. प्रशास्तृ या प्रशास्ता-कारागारों का प्रधान अधिकारी, 8. समाहर्ता - माल - विभाग का मंत्री, 9. सन्निधाता - राजकोष का मंत्री, 10. प्रदेष्टा - राजाज्ञाओं

का पालन करना, 11- नायक - सैनिकों का प्रधान अधिकारी 12- पौर -राजधानी का प्रधान शासक, 13- व्यावहारिक -न्यायकर्ता, न्यायाधीश, 14- कार्मांतिक-खानों और कारखानों आदि का प्रधान अधिकारी, 15- मन्त्र-मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष, 16- दण्डपाल -सेना के निर्वाह का कार्य करने वाला प्रमुख अधिकारी, 17- अंतपाल या राष्ट्रांतपाल - सीमा प्रान्तों का प्रधान अधिकारी, 18- दुर्गपाल - शत्रुओं से देश की रक्षा करने वाला अधिकारी । इन विभिन्न विभागों में अनेक अधिकारी और कर्मचारियों की भी व्यवस्था थी, जिससे सभी कार्य सुचारू रूप से चल सकें । "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में अनेक अन्य अधिकारियों का उल्लेख मिलता है । जैसे नगर की व्यवस्था के सुसंचालन के लिए छः विभाग थे, एक विभाग कारीगरों के कार्य का निरीक्षण करता था, दूसरा आवागमन पर नियन्त्रण रखता था, तीसरा जनगणना, स्वास्थ्य और आय व्यय की व्यवस्था करता था । चौथे विभाग में मुद्रा, विनिमय, तौल, पासपोर्ट आदि के कार्यों का नियंत्रण होता था । पांचवां विभाग निर्मित वस्तुओं की गुणवत्ता का निरीक्षण करता था और छठा विभाग कर की वसूली से सम्बन्धित था । इसी प्रकार जनपदों में भी अनेक अधिकारी थे जो गांव की शान्ति - व्यवस्था , उत्पादन और सार्वजनिक हित के अनेक कार्यों की देखरेख करने के लिए थे ।

चाणक्य इस बात के लिए विशेष ध्यान देते हैं कि राजा जिन अधिकारियों की नियुक्ति करे वे योग्य, कर्मठ और ईमानदार हों । वह इस बात की भी व्यवस्था करते हैं कि अधिकारी और कर्मचारियों के कार्यकलापों की गुप्त सूचना राजा के पास पहुंचती रहे, जिससे वे भ्रष्ट और अकर्मण्य होकर जनता को कष्ट न पहुंचा सकें । इस सम्बन्ध में वह कहते हैं कि एक मंत्री में निम्नांकित योग्यतायें होनी चाहिए, "स्वदेशोत्पन्न, कुलीन, अवगुणशून्य, निपुण व्यवहार, ललितकलाओं का ज्ञाता, अर्थशास्त्र का विद्वान, बुद्धिमान, स्मरण शक्ति सम्पन्न, चतुर,

वाग्पटु, प्रगल्भ, प्रतिवाद तथा प्रतिकार करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, सहिष्णु, पवित्र, स्वस्थ्य, धैर्यवान्, निरभिमानी, स्थिरप्रकृति, प्रियदर्शी और द्रोहवृत्तिरहित पुरुष प्रधानमंत्री पद के योग्य है । जिनमें इनके एक-चौथाई या आधी योग्यताएं हों उन्हें मध्यम या निकृष्ट मंत्री समझना चाहिए ।"[1] चाणक्य कहते हैं कि मंत्री नियुक्त करने के पूर्व प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मंत्री तथा अन्य अधिकारियों के गुणों की परीक्षा कर लेनी चाहिए । चाणक्य देश की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा के अतिरिक्त जनकल्याण सम्बन्धी अनेक विस्तृत कार्यों का निर्देश देते हैं । उनके चिन्तन में गरीब-अमीर, श्रमिक और दास, उच्च और निम्न वर्ण, स्त्री पुरुष, किसान और कारीगर सबको अनुशासित करने और उनके हितों की रक्षा करने की विस्तृत व्यवस्था की गई है । इनमें से अनेक विषयों का अन्य प्रसंगों में विवेचन किया गया है ।

"चाणक्यसूत्राणि" में अर्थशास्त्र की तरह से प्रत्येक विषय का विस्तृत विवेचन नहीं है, लेकिन इसमें राजा के आधारभूत कर्तव्यों का सुस्पष्ट और निश्चित वर्णन मिलता है । चाणक्य सूत्र में सर्वप्रथम राजा को आत्मजयी और नीतिवान होने का निर्देश दिया गया है । राजा अकेले सब कार्यों को नहीं सम्पन्न कर सकता है ।[2] इसलिए योग्य सहायक या मंत्री नियुक्त करना चाहिए । वह कहते हैं जैसे रथ का अकेला पहिया नहीं चल पाता है, वैसे ही राजा बिना मंत्रिपरिषद् के कार्य नहीं सम्पादित कर सकता ।[3] मंत्री की योग्यता और अयोग्यता

---

1. जानपदोऽभिजातः————मध्यमावरौ/को0अ04/8/1
2. नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः/चा0सू0 16
3. नैकं चक्रं परिभ्रमयति/चा0सू0 17

के सम्बन्ध में वह कहते हैं कि तत्वहीन व्यक्ति को केवल स्नेही होने से मंत्रणा में न सम्मिलित करें।[1] सभी शास्त्रों आदि विद्याओं के पारंगत तथा युक्त रूप से ली गयी परीक्षाओं से शुद्ध प्रमाणित व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करें।[2] चाणक्य राजा के कर्तव्यों में सबसे अधिक महत्व अर्थ को देते हैं. अर्थात् राजा को अपने कार्यों में सबसे पहले राज्य की सम्पत्ति की अधिकाधिक वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। यदि राज्य के पास समस्त आर्थिक साधन पर्याप्त मात्रा में है या अधिक हैं, तो वह उतने जनता का अधिक हित कर सकता है तथा आक्रमण के समय शत्रु का सफल रूप में विरोध कर सकता है। यदि साधन नहीं हैं तो शत्रु के सामने सरलता से पराजित हो जाएगा। इसीलिए वह कहते हैं कि राजा के लिए अर्थसंतोष घातक होता है। जो राजा अर्थ के प्रति उदासीन हो जाता है राजलक्ष्मी उसका परित्याग कर देती है।[3]

चाणक्य के अनुसार राजा का दूसरा महत्वपूर्ण कर्तव्य शत्रु के प्रति सदैव सावधान रहना। उनके अनुसार ऋण, शत्रु और व्याधि को कभी छोड़ना नहीं चाहिए।[4] इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण आज के युग में भी देखा जा सकता है। विश्व में अनेक ऐसे राष्ट्र हैं जो अमेरिका और रूस जैसे देशों के ऋणी हैं। ऐसे देशों की सरकारों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह गया है, ये इन बड़े राष्ट्रों के पिठलग्गू की तरह बने रहते हैं। उनके प्रत्येक आन्तरिक कार्य में ऋणदाताओं का

---

1. अविनीतं स्नेहमात्रेण न मंत्रे कुर्वीत /चा०सू० 20
2. श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्वीत /चा०सू० 21
3. अर्थतो ह्यर्थ श्रीः परित्यजति हि/चा०सू०77
4. ऋणशत्रुव्याधिप्रतीकारः कर्तव्यः/चा०सू० 435

हस्तक्षेप बना रहता है । यही स्थिति शत्रुओं के सम्बन्ध में भी है । भारत के चीन और पाकिस्तान दो शत्रु हैं, दोनों भारत की सुरक्षा शांति और व्यवस्था के लिए संकट उत्पन्न करते रहते हैं । अरबों रुपयों का बजट इनके कारण ही नष्ट होता रहता है । अतः चाणक्य कहते हैं कि राजा को अपने राज्य की आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करनी चाहिए । आचार्य यह भी कहते हैं कि राजा का कर्तव्य है कि राजा अपने दूतों के द्वारा देश की आन्तरिक और बाह्य घटनाओं का सदा ज्ञान रखे ।[1]

आचार्य चाणक्य राज्य में कर्मचारियों के महत्व को अवश्य स्वीकार करते हैं, किन्तु राजा का कर्मचारियों पर पूर्ण निर्भर होना घातक समझते हैं ।[2] इसलिए वे राजा से आशा करते हैं कि वह यथा-सम्भव कर्मचारियों के कार्यों पर अपनी दृष्टि रखे जिससे वह जनता पर अत्याचार न कर सके ।[3] इसी प्रकार राज्य के अनेक पक्षों के सम्बन्ध में "चाणक्यसूत्राणि" में विवरण प्राप्त होता है । इसी अध्याय के अगले पृष्ठों में इन पर विचार किया जाएगा ।

4. राज्य की अर्थनीति

हम पिछले पृष्ठों में कह चुके हैं कि चाणक्य राज्य का मुख्य आधार अर्थ को मानते हैं । इसीलिए उन्होंने अपने राजदर्शन में उन उपायों को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है जिनके द्वारा राज्य की

---

1. दूरस्थमपि चारचक्षुः पश्यति राजा/चा०सू० 472
2. मर्यादातीतं न कदाचिदपि विश्वसेत्/चा०सू० 172
3. बलमस्य कारकत्वमर्थायुक्तम्/चा०सू० 245

आय में अधिक से अधिक वृद्धि हो सके "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में दूसरे अधिकरण में जिन अधिकारियों के नाम दिए गए हैं, उनमें से अधिकांश सम्पत्ति अर्जित करने, कर वसूलने या सम्पत्ति की रक्षा से ही सम्बन्धित हैं। "अर्थशास्त्र" में केवल अर्थविभाग के कुछ अधिकारियों और कर्मचारियों के पद इस प्रकार हैं, " सन्निधाता (भंडारों का अधिकारी), स्थानिक (जनपद के चतुर्थांश का अधिकारी), गोप (गांवों का अधिकारी), प्रदेष्टा (स्थानिक तथा गोप का सहायक), अक्षपटलाध्यक्ष (आकाउंट जनरल), कोशाध्यक्ष, अर्थकारिणक (मुख्य अकाउंटेंट), कार्मिक (अर्थकारणिक का अधीनस्थ), गणनिक्य (जिलों का हिसाब रखने वाला कर्मचारी), सांव्यावहारिक (गणना करने वाले), लेखक (क्लर्क), नीवीग्राहक, गोपालक, उपयुक्त, निधानक, निबंधक, प्रतिग्राहक, दायक और संत्रियायुक्त्यक आदि का नाम उल्लेखनीय है।"[1]

चाणक्य ने "चाणक्यसूत्राणि" में राज्य की अर्थनीति के सम्बन्ध में ऐसा महत्त्वपूर्ण विचार दिया है जो संसार के समस्त अर्थदर्शनों का मार्ग दर्शन करने में सक्षम हो सकता है। वह कहते हैं, "अलब्ध का लाभ, लब्ध की रक्षा, रक्षित का वर्धन, रक्षित का राज्य कर्मचारियों की उचित नियुक्ति से उचित कार्यों में व्यय। ये राजव्यवस्था के चार आधार हैं। ये चारों बातें मिलकर राजतंत्र कहाने लगती हैं।"[2] चाणक्य के इस सिद्धान्त के अनुसार खेती, उद्योग, खान तथा अन्य करों के द्वारा राज्य के कोश की सतत वृद्धि करते रहना चाहिए यही अलब्ध को प्राप्त करना है। जो प्राप्त हो गया है,

---

1. वाचस्पति गैरोला, कौटिलीय अर्थशास्त्र, भूमिका भाग
2. अलब्धलाभादिचतुष्टयं राज्यतन्त्रम् /चा0सू042

उसकी यदि सुचित सुरक्षा नहीं की जाएगी तो वह क्षीण हो जाएगा, अर्थात् यदि राजा स्वयं और उसके कर्मचारी प्राप्त वस्तुओं का दुरुपयोग या नष्ट करते हैं, तो इससे राज्यकोश क्षीण हो जाएगा । इसलिए राजा को सदा सतर्क रहना चाहिए कि संचित राशि का दुरुपयोग न हो, अपितु उसकी वृद्धि होती रहे । जो राष्ट्र जितना समृद्ध है, उतना ही शक्तिशाली है । आधुनिक युग में अमेरिका विश्व का सबसे धनी राष्ट्र है । विश्व के लगभग तीन चौथाई देश उसके ऋणी हैं । केवल इसी कारण से विश्व की राजनीति में उसका सर्वाधिक प्रभाव है । अतः जब चाणक्य राजा को आर्थिक समृद्धि का मंत्र देते हैं, तो वह एक महान् राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री के रूप में हमारे समक्ष आते हैं ।

चाणक्य ने राज्य की इसी अर्थनीति का विस्तृत विवेचन "अर्थशास्त्र" में भी किया है । इसका बड़ा सारगर्भित विश्लेषण "कौटिलीय अर्थशास्त्र" के भाष्यकार वाचस्पति गैरोला ने अपनी भूमिका में इस प्रकार किया है, "कौटिल्य की समाज व्यवस्था का आर्थिक व्यवस्था का आर्थिक ढाँचा औद्योगिक आधार भूमि पर खड़ा है । कौटिल्य की अर्थनीति के तीन सिद्धान्त हैं । पहले सिद्धान्त के अन्तर्गत ऐसे उद्योगों को रखा गया है, जिन पर राज्य का स्वामित्व हो और जिन पर राज्य का स्वामित्व हो और जो राज्य के द्वारा ही संचालित एवं संघटित हों । इन उद्योगों की पूंजी, श्रम और प्रबन्ध का दायित्व राज्य पर ही निर्भर रहे । इस प्रकार की औद्योगिक अर्थनीति का परोक्ष उद्देश्य एक सशक्त, आत्मनिर्भर और सर्वसाधन सम्पन्न राज्य की प्रतिष्ठा करना था । इस प्रकार के महत्वपूर्ण

उद्योगों में सोना, चांदी, शिलाजीत, तांबा, शीशा, टिन, लोहा, मणि, लवण आदि आकर उद्योगों का प्रमुख स्थान है । दूसरे प्रकार के उद्योगों का सम्बन्ध जनता से है । इस श्रेणी के उद्योग राज्य के नागरिकों की निजी सम्पत्ति के रूप में माने गए हैं । उनके संघटन, संचालन, पूंजी, श्रम एवं प्रबन्ध का दायित्व भी नागरिकों पर ही निर्भर है । उन पर जनता का ही पूर्ण स्वामित्व है । ऐसे उद्योगों में खेती, सूत, शिल्प, गो-पालन, अश्व-पालन, हस्ति-पालन, सुरा, मांस, वेश्यालय और नट-नर्तक, गायक-वादक आदि की गणना की जा सकती है । कौटिल्य की अर्थनीति का तीसरा सिद्धान्त समाज में ऐसी व्यवस्था कायम रखने से सम्बद्ध है, जिसके अनुसार राज्य के समस्त उत्पादन वितरण और उपभोग पर शासन सत्ता का नियन्त्रण बना रहेगा ।"[1]

"चाणक्यसूत्राणि" में जब अलब्ध को उपलब्ध करने का निर्देश दिया जाता है, इसके अन्तर्गत उद्योग, व्यापार, कृषि आदि आते हैं लेकिन इसके अतिरिक्त राज्य की आय का मूल साधन कर है । उन्होंने करों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में विस्तार से निर्देश दिए हैं । सैद्धान्तिक रूप में, इन करों को सात वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, जो इस प्रकार है -1- दुर्ग द्वारा आय, 2- राष्ट्रीय आय के खाते, 3- खान से आय, 4- सेतु से आय, 5- वन से आय, 6- व्रज से आय, 7- वणिक पथ । चाणक्य कहते हैं," राजा को चाहिए कि वह देश, जाति तथा आचार के अनुसार नए एवं पुराने प्रत्येक पदार्थों पर कर की व्यवस्था करें, और उनमें जहां से नुकसान की संभावना हो, उसके लिए उचित दण्ड की भी व्यवस्था भी करें । "[2]

---

1. वाचस्पति गैरोला, कौटिलीय अर्थशास्त्रम, भूमिका भाग
2. अतो नवपुराणानां देशजाति चरित्रतः/
पण्यानां स्थापयेच्छुल्कमत्ययं चापि कारतः/कौ0अ038/22/1

आधुनिक युग के अर्थशास्त्री भी इस बात से सहमत हैं कि राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए कर ही प्रमुख साधन हैं। पी०के०वाटल तो यह कहते हैं कि राजस्व शासन की जननी है। लेकिन करों के सम्बन्ध में चाणक्य राजा को सन्तुलित नीति का अनुसरण करने को कहते हैं। जैसे किसी नए उद्योग में प्रारम्भ में कर नहीं लगाना चाहिए, जब वह उद्योग विकसित और लाभकारी हो जाए तब उस पर कर लगाना चाहिए। वह उदाहरण देते हुए कहते हैं, जब कोई व्यक्ति नया पुल या बांध बनवाए तो उस पर पांच वर्ष तक कर न लगाया जाए। यदि कोई पुराने तालाब आदि की मरम्मत कराए, तो उसे चार वर्ष तक कर से मुक्त रखना चाहिए। उनके अनुसार कोई वस्तु राज्य में कम उत्पन्न होती है और दुर्लभ है अथवा बाहर से आती है, तो उस पर कर नहीं लगाना चाहिए, ऐसा करने से जनता को सुविधा होती है। वह धार्मिक, सामाजिक कृत्यों में उपयोग होने वाली सामग्री को भी करमुक्त रखने के पक्ष में है, जैसे विवाह, यज्ञ, देवपूजन, पुस्तक आदि से संबंधित सामग्री को करमुक्त रखने की नीति के समर्थक हैं। यदि कोई व्यक्ति ऊसर बंजर भूमि को उपजाऊ बनाता है तो सरकार उस पर कुछ समय तक कर न लगाए। विद्वान, वेदपाठी ब्राह्मण, गरीब, विपन्न, विधवा, आश्रित, अंधे, लूले व्यक्तियों से भी कर नहीं लेना चाहिए। आपातकाल में राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए भी व्यवस्था थी। कहा जाता है कि जब सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया तो चन्द्रगुप्त ने अपनी प्रजा से सहयोग मांगा था, लेकिन बलपूर्वक धन छीना नहीं था। अनेक देव मन्दिरों से भी धन सहायता के रूप में प्राप्त किया था।

चाणक्य ने राज्य की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए कृषि,

उद्योग, व्यापार, आदि के सम्बन्ध में भी बड़े सूक्ष्म नियम बनाए थे। ये नियम इतने विस्तृत और व्यापक हैं कि इनको पढ़कर पश्चिमी विद्वान् आश्चर्य चकित रह गए। उनके अनुसार चाणक्य की अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से राज्य द्वारा नियन्त्रित और नियोजित थी। इसमें उत्पादन की मात्रा, गुण वत्ता तथा वितरण की प्रणाली पर पूरा ध्यान दिया गया है। केवल राज्य या उद्योगपतियों के हितों की ही रक्षा नहीं की गई है, अपितु प्रजा और श्रमिकों के लिए भी विशेष ध्यान रखा गया है। "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में एक अध्याय में मजदूरी के नियम दिए गए हैं। "कंटकशोधन" अधिकरण में व्यापारियों और शिल्पियों के शोषण से प्रजा की रक्षा करने के लिए अनेक नियम बनाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापारी आज के युग में ही जनता का शोषण नहीं करते, बल्कि उस युग में भी व्यापारियों के बारे में धारणा अच्छी नहीं थी। " इस प्रकार बनावटी साधु, बनिए, कारीगर, नट, भिखारी और ऐन्द्रजालिक आदि चोरों को तथा इसी प्रकार अन्य दुष्टों को देश में पीड़ा पहुंचाने से रोका जाए। "[1]

दण्ड की परिभाषा करते हुए चाणक्य ने कहा है, "उसे मार देना, पीड़ा पहुंचाना या उसके धन का आहरण कर लेना दण्ड कहलाता है।"[2]

आधुनिक अपराधशास्त्री वाल्टर रेकलेस ने लिखा, " दण्ड एक प्रकार का प्रतिशोध है जिसे समाज सामूहिक रूप से क्षतिपूर्ति एवं अपराधवृत्ति कम करने के लिए लागू करता है।"

---

1. स्वं चोरानचोराख्यान् वाणिक्कारूशीलवान् /
भिक्षुकान् कुहकांश्चान्यान् वारयेद्देशपीडनात्/कौ0अ076/1/3
2. तद्यः परिक्लेशोऽपहरणं दण्ड इति/कौ0अ026/10/1

5. दण्ड-नीति

सदरलैण्ड ने दण्ड के दो तथ्यों पर प्रकाश डाला है —

1. दण्ड एक समूह के द्वारा सामूहिक रूप से उसी समूह के व्यक्ति को दिया जाता है ।
2. दण्ड किसी सामाजिक मूल्य अथवा विश्वास पर आधारित होता है, जिसका उद्देश्य समाज में अपराध को रोकना होता है ।

लेखक ट्रेप्ट ने अपनी पुस्तक "क्रिमिनोलॉजी" में दण्ड को परिभाषित करते हुए कहा है, "दण्ड को हम ऐसा आकांक्षित अशुभों वाला कष्ट कह सकते हैं जो समाज की शांति भंग करने वाले व्यक्ति को दिया जाता है । यह कष्ट उस व्यक्ति के हित के ही लिए सदा नहीं होता । "

~~3. दण्डनीति~~

आधुनिक युग में पश्चिमी विद्वानों ने दण्ड के सम्बन्ध में बड़ा श्लाघ्यपूर्ण कार्य किया है और अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं । अपराध शास्त्र (क्रिमिनोलॉजी) और दण्डशास्त्र (पेनोलॉजी) इस विषय का विवेचन करते हैं । चाणक्य के दण्ड सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने पूर्व कुछ दण्ड सम्बन्धी प्रचलित सिद्धान्तों का क्रम में परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा, जिससे चाणक्य के विचारों के मूल्यांकन में सरलता होगी । विचारकों ने इस सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं —

1- प्रतिशोधात्मक, 2- प्रतिरोधात्मक, तथा 3- सुधारात्मक ।

पहला सिद्धान्त प्रतिशोध अर्थात् बदले की भावना पर आश्रित है, इसमें आँख के लिए आँख, प्राण के लिए प्राण लेने चाहिए अर्थात् जो जिस प्रकार की हानि पहुँचाता था, उसे उसी प्रकार का दण्ड मिलता था । दूसरे सिद्धान्त के अनुसार, दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोधक न हो

कर प्रतिरोधक है । इसमें कानून की प्रभुता की स्थापना नहीं, बल्कि अपराधी को अपराध दोहराने से रोकना है । तीसरा सिद्धान्त आजकल सबसे प्रचलित और प्रिय है । इसके अनुसार अपराध एक मानसिक रोग है, जिससे अपराधी को दण्ड नहीं, चिकित्सा देनी चाहिए । दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार या उसे उत्तम नागरिक बनाना है ।

आचार्य चाणक्य दण्ड को राज-व्यवस्था का प्रमुख आधार मानते हैं । वह इस सम्बन्ध में अपने स्पष्ट विचार "चाणक्यसूत्राणि" और "अर्थशास्त्र" दोनों में व्यक्त करते हैं । "अर्थशास्त्र" में राजा के लिए चार विद्याएँ अनिवार्य मानते हैं, जिनमें दण्डनीति चौथी है । उनका कहना है कि राजा की दण्ड-व्यवस्था से रक्षित सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से संचालित होती रहती है । "चाणक्यसूत्राणि" में आचार्य कहते हैं कि राजा दण्डनीति की प्रतिष्ठा करके प्रजा का संरक्षण कर सकता है ।[1] यह उपाय प्राचीन काल से आज तक चला आ रहा है । जब तक समाज और राज्य में व्यक्ति निर्धारित नियमों के अनुसार नहीं चलेंगे, तो समाज में अराजकता उत्पन्न होगी और प्रत्येक व्यक्ति को असुविधा होगी । विशेष रूप से निर्बलों को सबल पीड़ित जीवन सुचारू रूप से संचालित नहीं कर सकेगा । प्रत्येक समाज में लोभी, स्वार्थी, नीच व्यक्ति होते हैं । यदि इनको दण्ड का भय रहेगा तो वह अपराधों से विरत रहेंगे अथवा जब उनको दण्ड मिलता है, तो अन्य लोग ऐसा कुकृत्य करने का साहस नहीं कर पाते । इससे प्रजा को संरक्षण प्राप्त होता है । चाणक्य इसी उद्देश्य से दण्ड को प्रजा का संरक्षक कहते हैं । उनका मत है कि धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति बिना दण्ड-व्यवस्था के सम्भव नहीं है ।[2]

---

1. दण्डनीतिमधिष्ठिता प्रजाः संरक्षति/चा०सू०79
2. दण्डाभावे त्रिवर्गाभावः/चा०सू०81 (पाठान्तर)

चाणक्य के धर्म की धारणा में वर्णाश्रम व्यवस्था का विधान है, प्रत्येक वर्ण और आश्रम के निश्चित अधिकार और कर्तव्य हैं । वर्ण-व्यवस्था केवल एक धार्मिक क्रियाकलाप नहीं है, बल्कि आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का आधार भी है । यदि प्रत्येक व्यक्ति मनमाना आचरण करने लगेगा तोयह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था भंग हो जाएगी । ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन नहीं करेगा, क्षत्रिय देश की रक्षा नहीं करेगा, वैश्य व्यवसाय नहीं करेगा, शूद्र शारीरिक श्रम नहीं करेंगे तो इससे समाज अव्यवस्थित हो जाएगा । चाणक्य कहते हैं कि प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति दण्ड के भय से अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं । इसका लक्ष्य धर्म में हस्तक्षेप करना नहीं है, अपितु धर्म की व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करना है । यही स्थिति अर्थ और काम के सम्बन्ध में भी है यदि विवाह आदि के नियमों में पूर्ण स्वच्छन्दता हो जाएगी, कोई नियम, कोई भय नहीं रहेगा, तो समाज के मानवीय सम्बन्धों का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा । ऐसे नियम आधुनिक राज्य को भी बनाने पड़े हैं ।

चाणक्य कहते हैं कि दण्ड से ही राजा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होता है ।[1] इसका आशय यह है कि राज्य को दो रीतियों से धन प्राप्त होता है एक उत्पादन और दूसरा कर । यदि राज्य के उद्योग में दण्ड का भय नहीं रहेगा, तो मनुष्य निष्ठापूर्वक कार्य नहीं करेंगे । इसीलिए उन्होंने "अर्थशास्त्र" में राजकीय उत्पादनों के सम्बन्ध में अनेक कठोर नियम बनाए हैं, जिनके अनुसरण से राज्य की उत्पादन क्षमता और गुणवत्ता का ह्रास न हो सके । नियमोल्लंघन करने वाले कर्मचारियों के अपराध के अनुरूप दण्ड की व्यवस्था की गई है । राज-व्यवस्था में कर केवल आय की दृष्टि से लगाए जाते हैं । बहुसंख्यक व्यक्ति

---

1. दण्डः सम्पदा योजयति/चा०सू० 80

इन करों से बचने का उपाय करते हैं । निश्चित ही चाणक्य के काल में भी इस तरह के प्रयत्न लोग अवश्य करते होंगे । लेकिन दण्ड के भय से लोग कर देते हैं । अतः चाणक्य का यह कथन पूर्णतः उचित है कि दण्ड के भय से राज्य की आर्थिक स्थिति ठीक रखने में सहायता प्राप्त होती है ।

चाणक्य दण्ड का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि तुम्हारे शत्रु की हानिप्रदता , प्रबलता या निर्बलता तुम्हारी दण्डनीति की ढिलाई या सतर्कता पर निर्भर करती है ।[1] किसी राज्य की दण्ड देने की क्षमता पर ही दूसरे राज्य आक्रमण करने के लिए आकर्षित होते अथवा भयभीत होते हैं । यदि कोई राष्ट्र आर्थिक और सैनिक दृष्टि से पर्याप्त शक्तिशाली है, तो निर्बल राष्ट्र उसकी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करेंगे।लेकिन यदि सैनिक दृष्टि से कमजोर है, तो उस पर अनेक राज्यों की गिद्ध दृष्टि लगी रहती है । आधुनिक युग में इसका उदाहरण जर्मनी है । जापान और जर्मनी ने दुस्साहस करके संसार की तीन बड़ी शक्तियों, ब्रिटेन, अमेरिका और रूस से युद्ध छेड़ दिया । युद्ध में जर्मनी और जापान की पराजय हुई और अभूतपूर्व जन और धन की हानि हुई । चालीस वर्ष से अधिक हो गए हैं, कोई राष्ट्र इन पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं कर रहा । आज रूस और अमेरिका परस्पर दण्ड देने की बराबर क्षमता रखते हैं, इसी कारण एक दूसरे पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर पा रहे हैं । इस कथन का आशय यह है कि आचार्य का यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से ठीक है कि यदि किसी राष्ट्र में आक्रमणकारी को समुचित दण्ड देने की क्षमता है तो उससे बाहरी राष्ट्र आक्रमण करने का साहस नहीं करेंगे ।

---

1. अमित्रो दण्डनीत्यामायत्तः।-चा॰सू॰18

आचार्य चाणक्य ने दण्ड को तीन भागों में बांटा है - अर्थदण्ड, कार्यदण्ड, बन्धन गृह दण्ड/ आचार्य ने दण्ड के सिद्धान्तों को सात भागों में बांटा है -

1. अपराध की मात्रा के अनुसार दण्ड देना,
2. अपराधी की सामर्थ्य के अनुसार दण्ड देना,
3. वर्ण के अनुसार दण्ड देना,
4. विशेष परिस्थिति में किए गए अपराध के आधार पर दण्ड देना ,
5. भय अथवा आतंक स्थापित करने का सिद्धांत,
6. सुधार का सिद्धान्त ।

चाणक्य के अनुसार दण्ड के छह रूप हैं --

1. धिक्कार- जिसमें अपराधी की निन्दा की जाती थी ।
2. अर्थदण्ड- जिसमें अपराधी को जुर्माना किया जाता था ।
3. बन्धन- जिसमें अपराधी को जेल में रखा जाता था ।
4. अंग-भंग -जिसमें अपराधी का अंग-भंग किया जाता था ।
5. निर्वासन - अपराधी को देश से बाहर निकाल दिया जाता था ।
6. प्राणदण्ड- अपराधी को मौत की सजा दी जाती थी ।

आधुनिक युग के समाजशास्त्री, न्यायशास्त्री और अपराध शास्त्री प्राणदण्ड के सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं । एक वर्ग के लोगों का विचार है प्राणदण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, दूसरे कहते हैं प्राणदण्ड दिया जाना चाहिए । आचार्य चाणक्य प्राणदण्ड के समर्थक हैं । उन्होंने केवल हत्यारों को ही प्राणदण्ड देने की व्यवस्था नहीं की है, बल्कि अभ्यस्त अपराधियों के लिए भी प्राणदण्ड देने का निर्देश देते हैं । "अर्थशास्त्र" में कहा है, "तीर्थस्थानों में रहने वाले उठाईगीर , गिरहकट, छत फोड़ने वाले, व्यभिचारियों का अंगूठा तथा कनि-

ठिठका उंगली काट दी जाए । दूसरी बार यही अपराध करने पर सभी उंगलियां काट दी जाएं । यदि तीसरी बार अपराध करें तो दाहिना हाथ काट दिया जाए और यदि चौथी बार वही अपराध करे तो प्राणदण्ड दिया जाए ।"[1] "आदमी का मांस बेचने वाले को प्राणदण्ड दिया जाए । देवता के निमित्त पशु, प्रतिमा, मनुष्य, खेत, घर, हिरण्य, सोना, रत्न और अन्न, इन चीजों को जो भी व्यक्ति चोरी करे उसे उत्तम साहस का दण्ड या पीड़ारहित प्राणदण्ड की सजा दी जाए ।"[2]

इन अपराधों के अतिरिक्त हत्या और राजद्रोह, बलात्कार, सुरक्षित जंगल में आग लगाने आदि अपराधों में मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था है । मृत्यु-दण्ड भी दो प्रकार का था, एक क्षुद्र दण्ड, दूसरा चित्र दण्ड / क्षुद्र प्राणदण्ड कष्टरहित होता था, चित्र प्राणदण्ड कष्ट सहित होता था ।

चाणक्य के उपर्युक्त दण्ड-विधान से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वह निरंकुश या निर्मम दण्ड-व्यवस्था के समर्थक थे । वास्तव में, वह दण्ड देने में पूर्ण विवेक से काम लेने की भी बात करते हैं । आचार्य कहते हैं, "दण्डदाता के मन में व्यक्तिगत द्वेष आ जाने से दण्ड के कठोर हो जाने पर न्यायाधीश के पवित्र आसन से पतित होकर जनता का द्वेषभाजन बन जाता है ।"[3] अर्थशास्त्र में भी कहा है, "राजा और अमात्यों को लेकर प्रदेष्टा को चाहिए कि वह दण्ड देते समय

---

1. तीर्थधात ——— यथाकामी वध:/कौ0अ0स0/10/1
2. देव पशु ——— क्षुद्रवधो चा/कौ0अ0स0/10/3
3. दण्डपारुष्याद् सज्जनद्वेषो भवति/का0नी0सा76

अपराध को, अपराध के कारणों को, अपराधी की हैसियत को, वर्तमान तथा भावी परिणामों को और देश-काल की स्थिति को भली-भाँति सोच समझ ले, तदनन्तर न्याय के अनुसार प्रथम, मध्यम तथा उत्तम आदि दण्डों की सजा सुनाए ।"[1] "चाणक्य सूत्राणि" में भी कहा है, " दण्ड का प्रयोग सोच समझ कर किया जाना चाहिए । "[2]

~~इसे~~ इस प्रसंग के प्रारम्भ में उल्लेख किया गया था कि पश्चिमी विद्वान् दण्ड के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त मानते हैं, प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक और सुधारात्मक/चाणक्य के दण्ड-विधान से यह ज्ञात होता है कि चाणक्य तीनों सिद्धान्तों को आंशिक रूप से स्वीकार करते हैं, किसी एक पर उनका दुराग्रह नहीं है । वह दण्ड के सम्बन्ध में समन्वयवादी हैं । उनके दण्ड-विधान में प्रतिशोध का भाव अवश्य है । जैसे हत्या के लिए प्राणदण्ड का विधान करते हैं । यह अपराधी को सुधरने का अवसर प्रदान करते हैं, जैसे चोर आदि को तीन बार हल्का दण्ड देकर सुधरने का मौका देते हैं, चौथी बार प्राणदण्ड दिया जाता है । जब वह अपराधियों को अंग-भंग करने या जुर्माने की सजा देते हैं तो उसमें प्रतिरोध का भाव ही निहित है कि अपराधी और अन्य अपराध से विमुख रहें ।

---

1. पुरुषं चापराधं च कारणं गुरुलाघवम् /
   अनुबन्धं तदात्वं च देशकालौ समीक्ष्य च ।।
   उत्तमावरमध्यत्वं प्रदेष्टा दण्डकर्मणि ।
   राज्ञश्च प्रकृतीनां च कल्पयेदन्तरा स्थितः//कौ0अ085/10/4
2. दण्डो हि विद्वान्नै प्रणीयते /चा0सू0 86

अपराधियों के प्रति दया का भाव भी रखा जाता था । बूढ़े, अनाथ और बालक बन्दियों को राजा की वर्षगाँठ तथा पूर्णमासी आदि पवित्र अवसरों पर छोड़ दिया जाता था । युवराज के अभिषेक या पुत्र जन्म पर भी अपराधी छोड़ दिए जाते थे । जो अपराधी भविष्य में अच्छे आचरण करने का वचन देते थे उनकों आर्थिक दण्ड आदि देकर भी मुक्त कर दिया जाता था ।

6. न्याय नीति

प्रत्येक राज्य व्यवस्था का सुचारू रूप से संचालन न्याय व्यवस्था पर निर्भर करता है । न्याय - व्यवस्था के लिए पहली आवश्यकता है कि राज्य के कानून निश्चित, पूर्ण और लिखित हो । यदि कानून पर्याप्त और ठीक नहीं है, तो नागरिक को अपने कर्तव्यों का ठीक - ठीक ज्ञान नहीं होगा अत: उससे अज्ञात रूप में अपराध हो जाना सम्भव है और यदि कानून निश्चित और स्पष्ट नहीं है, तो न्यायकर्ता के समक्ष भी संकट उपस्थित हो जाता है आचार्य चाणक्य विश्व के कानून के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखते है, क्योंकि उन्होंने आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व राज्य को ऐसा निश्चित और लिखित विधान प्रदान किया । जिसमें नागरिक के प्रत्येक आचरण के सम्बन्ध में स्पष्ट अनिर्देश दिया तथा उसका उल्लंघन करने पर अपराधी को निश्चित दण्ड देने की व्यवस्था भी की । इतना विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन विश्व के कानून साहित्य में नहीं प्राप्त होता ।

चाणक्य कहते है, "प्रजा न्यायी राजा को मातृ तुल्य मान सकती है।[1] उनके अनुसार न्यायी राजा स्वर्ग के सुख को प्राप्त करता है ।"[2]

---

1. न्याययुक्तु राजानं मातरू मन्यन्ते प्रजा: / चा० सू० 559
2. तादृश: स राजा इह सुखं तत: स्वर्गमाप्नोति/चा०सू० 560

याज्ञवल्क्य ने न्याय के चार आधार बताए है - धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा/इनको राष्ट्र के चार पैरों की संज्ञा दी है । उसमें भी धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र से राजाज्ञा श्रेष्ठ है ।[1] न्याय के सम्बन्ध में उनका कथन है कि न्याय की दृष्टि में पुत्र और शत्रु समान होने चाहिए । उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए । यदि पुत्र ने अपराध किया है, तो उसे अपराधी को दिया जाने वाला दण्ड देना चाहिए । ऐसा करने से राजा को लोक और परलोक में रक्षा होती है ।[2] आचार्य याज्ञवल्क्य धर्म, चरित्र और लोकाचार की तुलना में राजाज्ञा को सर्वोपरि मानते है । ऐसा कोई विवाद उत्पन्न हो जिसमें आज्ञा और धर्म में विरोध हो तो राजाज्ञा को प्रमाण मानना चाहिए ।[3] विवादों में निर्णय देने के सम्बन्ध में वह पाँच बातों को महत्वपूर्ण मानते हैं, "1. जिसका अपराध देख लिया गया हो, 2. जिसने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया हो, 3. सरलता से जिरह, 4. सरलता से कारणों का पता लग जाना और 5. कसम दिलाना, ये पाँचों बातें सच्चाई को सिद्ध करने में सहायक रहती है । यदि उक्त पाँच हेतुओं से भी वादी-प्रतिवादी को पारस्परिक विरुद्ध दलीलों का उचित समाधान न हो सके तो साक्षियों और गुप्तचरों द्वारा छानबीन कराकर अपराध का फैसला देना चाहिए ।"[4]

न्याय में साक्षियों का बड़ा महत्व होता है । साक्षियों के

---

1. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् ।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्व बाधकः//को0अ056/1/2

2. दण्डो हि केवलो लोकं परं चैवं च रक्षति ।
राजा पुत्रे च शत्रौच यथादोषं समं धृतः//को0अ0 56/1/5

3. आज्ञा विप्रतिषेधे धर्मन्यायेन केनचित् ।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति//को0अ056/1/8

4. इष्टदोषः स्वयंवादः स्वयक्षरपक्षयोः ।
अनुयोगार्जवं हेतुः अर्थश्चार्थ साधकः ।।
पूर्वोत्तरार्थ व्याघाते साक्षिवक्तव्यकारणे ।
चारहस्ताच्यनिष्पातेष्टदेष्टव्यः पराजयः//को0अ057/1/1-2

सम्बन्ध में "चाणक्यसूत्राणि" में कहा गया है कि मनुष्य मिथ्या पक्ष का समर्थक साक्षी न बने ।[1] मिथ्या को सत्य बता देने वाले साक्षी, अज्ञानी मूढ़ लोग मिथ्याभाषण रूपी कर्म को ही शुभ समझकर अनन्त दुःख-जाल रूपी नरक में फंसे रहते हैं ।[2] आचार्य इस वैज्ञानिक तत्व से भी अवगत हैं कि अपराधी अपराध के प्रमाण किसी न किसी रूप में भौतिक परिवेश में छोड़ जाता है ।[3] वह मानते हैं कि मनुष्य का सबसे बड़ा साक्षी आत्मा है ।[4] आदमी अपने पाप को छिपाता है लेकिन उसकी आत्मा उसको धिक्कारती है । अतः पाप को छिपाया नहीं जा सकता । कौटिल्य के काल में ग्राम स्तर से राष्ट्र स्तर तक न्याय की व्यवस्था थी । राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था । न्यायालयों की प्रक्रिया आधुनिक ढंग की ही थी । न्यायाधीशों के आचरण के सम्बन्ध में कठोर नियम बनाए थे । यदि कोई न्यायाधीश अनुचित व्यवहार करता था और वह प्रमाणित हो जाता था, तो उनको भी दण्डित करने का पूरा राजा को तरह अधिकार था । न्यायाधीशनिर्लोभी और निष्पक्ष रहें, इसलिए कौटिल्य ने उनके वेतनमान अच्छे रखे थे । मुख्य न्यायाधीश का वेतन अड़तालीस हजार पण प्रतिमाह रखा गया था। कनिष्ठ न्यायाधीशों का वेतन केवल बारह हजार पण था । न्यायालयों के निर्णय खुली अदालतों में होते थे, जिससे कि जनता प्रत्यक्ष रूप से न्याय-प्रक्रिया को देख सुन और समझ सके ।

---

1. न स्याद् कूटसाक्षी/चा०सू० 550
2. कूटसाक्षिणो नरके पतन्ति/चा०सू० 551
3. प्रच्छन्नपापानां साक्षिणी महाभूतानि/चा०सू०552
4. सर्वसाक्षीह्यात्मा/चा०सू० 549

क्षेत्र में, आचार्य चाणक्य समाज और राज्य में किसी प्रकार की अव्यवस्था के प्रति पूर्ण रूप से कठोर हैं, किन्तु वह ऐसा भी नहीं चाहते हैं कि जनता के साथ अन्याय हो, निर्दोष व्यक्ति पीड़ित हो। इसीलिए वह राजा को अन्याय के प्रति सावधान भी करते हैं।

7- कूटनीति

आप्टे शब्दकोश के अनुसार कूट शब्द का अर्थ है मिथ्या, अछल, स्थिर, जालसाजी, भ्रम, धोखा, जाल, साजिश से भरी हुई योजना आदि। भाषा की दृष्टि से कूटनीति कुटिल नीति की पर्याय है। सामान्य बोलचाल में भी कूटनीति को दाँव-पेंच, छल-छद्म का पर्याय समझा जाता है। आचार्य चाणक्य के पूर्व महाभारत-काल में राजनीति में छल-छद्म का बड़ा प्रयोग हुआ था। यद्यपि महाभारत में यह दिखाया गया है कि कौरवों ने सबसे अधिक कुटिल नीति का प्रयोग किया और अन्त में उनकी पराजय हुई। कुछ अनैतिक कही जाने वाली योजनाएँ पाण्डवों की ओर से भी प्रयोग की गईं, जिनके सूत्रधार कृष्ण जी रहे, ऐसी अनेक कथाएँ महाभारत में दी हुई हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा भी गया है कि पाप कभी पुण्य का रूप धारण कर लेता है और पुण्य कभी पाप का रूप ग्रहण कर लेता है, ऐसा कोई कार्य नहीं है जो पूर्ण रूप से दुष्कृत्य हो अथवा ऐसा भी कोई कार्य नहीं जो पूर्ण रूप से दुर्गुणों से मुक्त हो। भीष्म कहते हैं कि शक्ति हो से कोई कार्य उचित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य चाणक्य धर्म और नैतिकता के पूर्ण समर्थक होते हुए भी राज्य और राजा को इन व्यक्तिगत नैतिक मूल्यों से मुक्त रखते हैं। उनकी मान्यता है कि यदि राज्य का अस्तित्व नहीं रहेगा, तो धर्म और नैतिकता का भी लोप हो जायगा। राज्य के शत्रु किसी नैतिकता को मानने के लिए बाध्य नहीं होते हैं, इसलिए उन्हें परास्त करने के लिए जो भी सम्भव उपाय हों

उनका प्रयोग करना चाहिए और प्रत्येक स्थिति में उनका दमन करना चाहिए । शत्रु केवल राज्य के बाहर के लोग नहीं होते हैं, बल्कि राज्य के अन्दर भी होते हैं, जैसे- राजा के पुत्र, सम्बन्धी, कर्मचारी, आदि । अतः यदि इनके दमन के लिए छल-छद्म आदि का प्रयोग किया जाए, तो अनुचित नहीं है । इसी आधार पर चाणक्य ने "चाणक्यसूत्राणि" और "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में अनेक कूटनीतिक उपाय बताए हैं । ऐसे उपाय "अर्थशास्त्र" में तो प्रथम अधिकरण से प्रारम्भ होकर अन्तिम अधिकरण तक बड़ी सरलता से देखने को मिल सकते हैं । इन तथाकथित अनुचित या अनैतिक उपायों के कारण अनेक विद्वानों ने चाणक्य की निन्दा की है । कुछ लोग तो यह कहते हैं, कि यह कुटिल नीति का समर्थन करते हैं, इसीलिए उनको कौटिल्य कहा जाता था । धर्माचार्य और नीति शास्त्री इस सम्बन्ध में कुछ भी विवाद करें यह एक तथ्य है कि राज्य के सन्दर्भ में कूटनीति का पूर्ण रूप से उन्मूलन नहीं हो सकता है । महाभारत से आधुनिक युग तक राजनीति में कूटनीति का अस्तित्व है और प्रभाव बना हुआ है । गांधीजी जैसे महापुरुषों ने राजनीति के कूटीकरण का अथक प्रयास किया, लेकिन कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी । वास्तव में, यदि एक राज्य पूर्ण रूप से शुद्ध और पवित्र साधनों का उपयोग करता है, ~~लेकिन वह और पवित्र साधनों का उपयोग करता है~~ लेकिन वह राज्य छल-छद्म का सहारा लेता है, तब उसको उसी भाषा में उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है । चाणक्य की कूटनीति इसी विशेषता की स्थिति का सामना करने के लिए है ।

"चाणक्यसूत्राणि" में पग-पग पर राजा को सावधान किया

गया है कि वह शत्रु से सावधान रहे तथा उसके सर्वनाश का उपाय करे। वह कहते हैं, "शत्रु की चित निर्बलता पर प्रहार करके उसे नष्ट करना हो उसका पता न चला लेने तक उसे कृत्रिम मान तथा कृत्रिम मित्रता के प्रदर्शन से धोखे में रखे रहो।"[1] "विजिगीषु राजा शत्रु की विद्रावस्था में उसे अपनी सहायता से वंचित कर दे।"[2] "राजा अपने वश में आने के पश्चात् अपनी शत्रुता का संगोपन तथा मित्रत्व का प्रदर्शन करने वाले शत्रु पर विश्वास न करें।"[3] "शत्रु प्रतिपक्षी की निर्बलता पर ही आक्रमण करते हैं।"[4] चाणक्य का मत है कि यदि विपक्षी निर्बल है, तो उससे सन्धि का प्रस्ताव नहीं करना चाहिए, यदि सबल है, तो सन्धि की नीति अपना कर रक्षा करनी चाहिए।[5] यदि शत्रु बली है, तो बुद्धि बल से उसे पराजित करने का उपाय करना चाहिए।[6] उनके अनुसार यथा सम्भव समान बल वाले और अधिक बल वाले झगड़ा से नहीं करना चाहिए।[7] शत्रु की गतिविधियों का गुप्तचरों के माध्यम से सदा ज्ञान रखना चाहिए। यदि राज्य के अन्तर्गत ऐसे महत्वाकांक्षी व्यक्ति हैं, तो उनमें आपस में ही ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न करके उन्हें नष्ट कर देना चाहिए।[8] यदि किसी राजा से सन्धि हो गई है, तो भी उससे सदा सावधान रहना चाहिए तथा उसके कार्यों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखना चाहिए।[9]

---

1. यावच्छत्रोरि छद्रं पश्यति तावद्भृत्तेन वा स्कन्धेन वा वाह्यः/चा०सू० 193
2. शत्रुं छिद्रे परिहरेत् /चा०सू० 194
3. हस्तगतमपि शत्रुं न विश्वसेत् /चा०सू० 197
4. छिद्रप्रहारिणश्चत्वारः/चा०सू० 196
5. हीयमानः सन्धिं कुर्वीत/चा०सू०52
6. बलवान् हीनेन विगृह्णीयात् /चा०सू० 55
7. न ज्यायसा समेन वा/चा०सू० 56
8. द्वयोरपीहमानयोः वैधीभावं कुर्वीत/चा०सू० 68
9. सन्धीयमानो वा/चा०सू० 60

इन सब सूत्रों की विस्तृत व्याख्या "अर्थशास्त्र" के लगभग प्रत्येक प्रकरण में मिलती है। जैसे प्रथम प्रकरण में कहा गया है कि मंत्री और पुरोहित नियुक्त करने के पूर्व उनकी सब प्रकार से परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा के जो उपाय बताए गए हैं, काफी विलक्षण हैं। उसमें कहा गया है कि नियुक्ति के पूर्व उन व्यक्तियों के समक्ष धन और काम के अनेक अवसर उपस्थित करने चाहिए तथा कपट वेश धारी गुप्तचर भेजने चाहिए। यदि वे ऐसी परीक्षाओं में सफल रहें तो उनको नियुक्त करे। इन गुप्त उपायों के नाम धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, भयोपधा हैं।[1] चाणक्य की गुप्तचर व्यवस्था भी बड़ी सूक्ष्म है। कई प्रकार के गुप्तचर बताए हैं, कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी आदि।

दूसरों के रहस्यों को जानने वाला, दबंग और विद्यार्थी की वेशभूषा में रहने वाला गुप्तचर कापटिक कहलाता है।
बुद्धिमान, सदाचारी, सन्यासी के वेश में रहने वाले गुप्तचर का नाम उदास्थित होता है। बुद्धिमान, पवित्रहृदय और गरीब किसान के वेश में रहने वाले गुप्तचर को गृहपतिक कहते हैं। बुद्धिमान, पवित्र हृदय, गरीब, व्यापारी के वेश में रहने वाले गुप्तचर को वैदेहक कहते हैं। जीविका के लिए सिर मुंडाए या जटा धारण किए हुए राजा का कार्य करने वाला गुप्तचर तापस होता है। यही पांच प्रमुख गुप्तचर हैं।[2] अर्थशास्त्र के नवें प्रकरण और तेरहवें अध्याय में यह बताया गया है कि शत्रु-पक्ष के लोगों को अपनी तरफ किस तरह मिलाकर शत्रु के भेद जानने चाहिए। ऐसे लोगों पर भी चाणक्य गुप्तचर रखने का निर्देश देते हैं। जिससे किसी समय वह पुनः शत्रुपक्ष से न मिल जाएं। चाणक्य मंत्रियों की आवश्यकता पर अवश्य बल देते हैं, लेकिन राजा से कहते हैं

---

1. मंत्रिपुरोहित ——— भयोपधा/कौ0अ05/9/1-3
2. परमर्मज्ञः——— कापटिकोदास्थितगृहपतिकवैदेहकतापसव्यञ्जनसत्रितीक्ष्णरसदभिक्षुकीविषयुक्तान्/कौ0अ06/10/1-3

कि वह अनेक बातें अपने मंत्रियों को भी न बताए, जैसे कछुआ अपने अंगों को छिपाए रहता है, वैसे ही राजा भी अपने गुप्त भावों को छिपाए।।

राजदूतों के सम्बन्ध में भी उनकी नीति कूटनीति की ही है। वह शत्रुदेश में राजदूत के कर्तव्यों में भारण, मोहन, उच्चाटन आदि करने की भी बात कहते है। बारहवें प्रकरण और सोलहवें अध्याय में राजपुत्रों से राजा की रक्षा के उपाय बताए गए है। यदि राजपुत्र राजा के विरोधी हों, तो उन्हें साम्दाम, दण्ड भेद से रास्ते पर लाने के अनेक उपाय दिए गए है। चाणक्य यहाँ तक कहते हैं, "यदि राजपुत्र किसी रूप में ठीक न हो तो उसे देश निकाला दें या मरवा डालें। राजा के स्नान, भोजन, शयन, भ्रमण आदि के संबंध में बड़े सूक्ष्म नियम बताए है, जिससे उसके परिवारी, कर्मचारी आदि घात न कर सकें।[2]

राज्य में राजा के सबसे बड़े शत्रु राजकर्मचारी होते है। राजा कितना भी अच्छा हो, लेकिन कर्मचारी यदि दुष्ट हैं, तो उसको कलंकित कर सकते है, राज्य को क्षति पहुँचा सकते है तथा दूसरे राजा से मिलकर विश्वासघात भी कर सकते हैं। चाणक्य ने "चोरों और राजकर्मचारियों को एक श्रेणी में रखा है।[3] ऐसे राजद्रोही अधिकारियों को नियन्त्रित करने के लिए प्रकरण नवासी के पहले अध्याय में अनेक उपाय बताए गए है। इन विद्रोही अधिकारियों को छल छद्म से मारने की व्यवस्था भी है। युद्ध के समय शत्रु को कूट युद्ध के द्वारा कैसे परास्त किया जाए इसके अनेक उपायइ प्रकरण एक सौ पचास के तीसरे अध्याय में बताए हैं।

---

1. नास्य गुह्यं परे विद्युश्चिद्रं विद्यात् परस्य च।
   गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवृतमात्मनः/कौ0अ0 1/14/1
2. उपस्थितं च राज्ञेन मद्रूष्वामिति सान्त्वयेत्
   एकस्यमस्य संबन्धाद् द्वयवाद् वा प्रवासयेत् / कौ0अ0 1/17/1
3. चोरराजपुरुषेभ्यो वित्तं रक्षेत् / वा0 सू0 556

चाणक्य की कूटनीति में तंत्र-मंत्र का बड़ा स्थान है । "अर्थशास्त्र के चौदहवें अधिकरण के चार अध्यायों में तंत्र-मंत्र और औषधि के ऐसे प्रयोगों का वर्णन है जिनसे शत्रु को मारा जा सकता है तथा शत्रु द्वारा किए गए ऐसे ही उपायों का खण्डन किया जा सकता है ।

कूटनीति के इन उपायों को पढ़कर यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि चाणक्य के समाज-दर्शन में धार्मिक और नैतिक मूल्य का कोई स्थान नहीं है । लेकिन यह तथ्य नहीं है । यदि कोई हिंसक पशु या जीव मनुष्य का अन्त करने के लिए उद्यत हो अथवा उससे प्रतिक्षण भय बना रहता हो, तो आत्मरक्षा न करना पूर्ण अविवेक है । एक व्यक्ति अपने साधु स्वभाव के कारण अपनी बलि भी दे सकता है, लेकिन यदि राजा अपनी अहिंसक नीति का अनुसरण करता है तो वह सम्पूर्ण राष्ट्र को संत्रस्त कर देगा । राम और कृष्ण ने भी छलों का सहारा किया था और समस्त धर्मवेत्ताओं ने उनके कार्य को पूर्ण नैतिक माना है । यदि चाणक्य शत्रुओं और छलों के संहार के लिए इस प्रकार के उपाय प्रस्तावित करते हैं, तो यह पूर्ण रूप से राष्ट्र और समाज के हित में है, क्योंकि वह यह मानते हैं कि राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह राष्ट्र कण्टकों से सदा राष्ट्र की रक्षा करता रहे ।[1]

8- युद्धनीति और सन्धिनीति

राज्य-व्यवस्था में कोई राष्ट्र चाहे या न चाहे लेकिन उसे युद्ध में फंसना पड़ सकता है । प्रायः देखा जाता है कि पड़ोसी राज्य निहित स्वार्थों अथवा सीमा-विवाद के कारण युद्ध की स्थितियां उत्पन्न कर देते हैं और प्रभुसत्ता के लिए संकट उत्पन्न

---

1. चोरांश्च कण्टकांश्च सर्वतः विनाशयेत्/चा०सू०560/अधिक सूत्र/

हो जाता है । उदाहरण के लिए, भारत अत्यन्त शान्तिप्रिय देश रहा और पड़ोसी राज्यों से मित्रता के प्रयत्न करता रहा । लेकिन चीन की महत्वाकांक्षाओं और पाकिस्तान के अविवेक के कारण युद्ध करना अनिवार्य हो गया । यही स्थिति हजारों वर्ष पूर्व बहुत जटिल और उग्र थी । चाणक्य के राज-दर्शन में इस समस्या के समाधान के लिए अत्यधिक सूक्ष्म रूप से और विस्तार से विचार किया गया है । चाणक्य तो यह मानते हैं कि सीमावर्ती देश प्रायःस्वभाव से शत्रु होते हैं । अतः उनकी गतिविधियों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए ।[1] और शत्रु के राज्य से जिस अगले राज्य की सीमा मिलती है, वह शत्रु का शत्रु होता है तथा प्रथम राज्य का स्वभावतः मित्र हो जाता है ।[2] आशय यह है कि राज्य-व्यवस्था में युद्ध की सदा सम्भावनाएं बनी रहती हैं । महान् सामाजिक विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल का यह कथन है कि युद्ध समाज की एक स्थायी संस्था है अर्थात् इतिहास के आदि काल से युद्ध होते आ रहे हैं और आज भी उनका अस्तित्व बड़े उग्र रूप में वर्तमान है । विश्व के महान विचारकों और आध्यात्मिक नेताओं ने युद्ध के विरोध में बहुत लिखा और कहा लेकिन युद्ध का उन्मूलन नहीं हो सका । बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा, "युद्ध दो दलों के बीच ऐसी टक्कर होती है जिसमें अपने किसी वांछित उद्देश्य को पूरा करने के लिए दोनों ही दल एक-दूसरे के लिए अधिक से अधिक लोगों को जान से मार देने या अंग कर देने की कोशिश करते हैं । यह उद्देश्य या तो सत्ता प्राप्त करना होता है या सम्पदा ।

---

1. अनन्तर प्रकृतिः शत्रुः/का0सू0 49
2. एकान्तरितं मित्रमित्याचार्याः/का0सू0 50

दूसरों पर अपनी सत्ता चलाने में बड़ा सुख है ।"[1] इस नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण ही युद्ध होते हैं । चाणक्य इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से पूर्ण रूप से अवगत थे । इसलिए उन्होंने अपने राजदर्शन में युद्ध से विरत रहने का उपदेश नहीं दिया, बल्कि उन्होंने राजा को यह निर्देश दिया कि साम, दाम और दण्ड, भेद इन चारों कूटनीतिक उपायों का अनुसरण करते हुए युद्ध का सामना करना चाहिए और शत्रु को परास्त करना चाहिए ।

"चाणक्यसूत्राणि" में अनेक सूत्र युद्ध के सन्दर्भ में राज्य का निर्देशन करते हुए प्रतीत होते हैं । चाणक्य की पहली नीति यह है, "शत्रु का विश्वास कभी न करें, यदि वह मित्रता का प्रदर्शन करे तो भी उससे सावधान रहना चाहिए ।"[2] उनके अनुसार शत्रु के निर्बल पक्ष पर दृष्टि रखनी चाहिए और उसी पर प्रबल आक्रमण करना चाहिए ।[3] शत्रु को अपनी निर्बलता किसी रूप में पता नहीं लगने देना चाहिए, बल्कि उसे सदा भ्रम कराते रहना चाहिए कि उससे समक्ष वह बहुत शक्तिशाली है ।[4] यदि शत्रु सबल है तो उससे कृत्रिम मित्रता करके धोखे में रखना चाहिए और जब असावधान हो तब उस पर आक्रमण करना चाहिए । युद्ध के सम्बन्ध में चाणक्य कहते हैं कि जब विजय सुनिश्चित हो तब उसी अवस्था में युद्ध छिड़ना चाहिए ।[5] यदि शत्रु अधिक शक्तिशाली और अन्यायी है तो उससे सन्धि करके

---

1. बर्ट्रेण्ड रसेल, सामाजिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त, पृ064
2. हस्तगतमपि शत्रुं न विश्वसेत्/चा0सू0197
3. छिद्रप्रहारिणश्शत्रवः/चा0सू0196
4. आत्मछिद्रं न प्रकाशयेत्/चा0सू0 195
5. हीयमानेन न सन्धिं कुर्यात्/चा0सू052/अधिक सूत्र ।

आत्मरक्षा करनी चाहिए।[1] एक अन्य स्थान पर वह कहते है कि अधिक या समान बल वाले से विग्रह नहीं करना चाहिए।[2] वह कहते है, जैसे कच्चे पात्रों को टक्कर होने से दोनों टूट जाते हैं उसी प्रकार समान शक्ति वाले राष्ट्र जब लड़ जाते है, तो दोनों का विनाश होता है।[3] यदि राजा निर्बल हों, तो उसे अपनी रक्षा के लिए अपने से अधिक शक्तिशाली राज्य से मित्रता कर लेनी चाहिए।[4] लेकिन वह भी सावधान करते है कि अगर बलवान राजा का आश्रय लिया जाए तो उससे सदा सावधान रहना चाहिए। ऐसा सम्बन्ध अग्नि से सम्बन्ध के समान है, जैसे साधारण अग्नि असावधानी करने से विनाश भी कर सकती है।[5] आशय यह है कि युद्ध के समय यदि आवश्यकता पड़े तो सबल का आश्रय लिया जाए, लेकिन ऐसा न हो कि आश्रयदाता भक्षक हो जाए।

आचार्य चाणक्य के "अर्थशास्त्र" का लगभग आधा भाग युद्ध से ही संबंधित है अर्थात सातवें अधिकरण से चौदहवें अधिकरण तक युद्ध और संधि का विवेचन किया गया है। आचार्य युद्ध के सम्बन्ध में पर्याप्त यथार्थवादी है वह कहते है कि क्षय, व्यय और लाभ का विचार करके ही युद्ध के लिए प्रस्थान करना चाहिए।[6] वह यह भी कहते है कि ऐसे अवसरों पर तिथि नक्षत्र आदि का अधिक विचार नहीं करना चाहिए। प्रत्येक कार्य को सिद्धि के लिए पर्याप्त साधनों को ही पर्याप्त समझना चाहिए।[7] अर्थ-शास्त्र में चाणक्य ने सेना

---

1. हीयमानः सन्धिं कुर्वीत / चा० सू० 52
2. आत्मसमाभ्यां सह विनश्यति/ चा० सू० 58
3. न ज्यायसा समेन वा / चा० सू० 56
4. शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत / चा० सू० 62
5. अग्निवद्राजानमाश्रयेत / चा० सू० 64
6. ताभ्यां बहुगुणविशिष्टे लाभे यायात् /को०अ० 142/4/2
7. नक्षत्रमतिपृच्छन्तं कालमर्थोऽतिवर्तते।
अर्थो ह्यस्यस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः/को०अ० 142/4/2

के संगठन, छावनी के निर्माण, आक्रमण के समय सेना की रक्षा, सेना के प्रोत्साहन, व्यूह रचना आदि के सम्बन्ध में बड़ा सूक्ष्म विवेचन दिया है । इसके अतिरिक्त भेद प्रयोग, दूत कर्म, मंत्र युद्ध, दर्गों के गुप्त प्रयोग, कूट प्रयोग, कपट उपायों आदि का वर्णन है । लेकिन इन अनेक उपायों का वर्णन करने के उपरान्त आचार्य युद्ध में सर्वाधिक महत्व बुद्धि को देते हैं, " धनुर्धारी के धनुष से छोड़ा गया बाण, संभव है किसी एक व्यक्ति को ही मार डाले या न भी मारे, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति के द्वारा किया गया बुद्धि का प्रयोग समस्त प्राणियों को भी नष्ट कर देता है । इसलिए युद्ध की अपेक्षा बुद्धि को ही अधिक शक्ति-सम्पन्न समझना चाहिए । "[1]

आचार्य चाणक्य युद्ध का दृढ़ता पूर्वक सामना करने को कहते हैं तथा शत्रु को किसी भी रीति से पराजित करने का पक्ष समर्थन करते हैं, किन्तु जब राजा की विजय हो जाए, तो वह पराजित राज्य में कठोर व्यवहार करने के पक्ष में नहीं हैं । वह कहते हैं, "विजयी राजा को चाहिए कि नए राज्य को प्राप्त कर वह शत्रु के दोषों को अपने गुणों से ढक दे और सदा अपने धर्म, कर्म, अनुग्रह, परिहार, सम्मान आदि श्रेष्ठ कार्यों द्वारा प्रजा के अनुकूल कल्याण कारी कार्यों को करने में लगा रहे ।"[2]

इस अध्याय के प्रारम्भ में यह विचार व्यक्त किया गया था कि आचार्य चाणक्य के राज दर्शन में शक्ति और सहयोग दोनों प्रकार

---

1. एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुः क्षिप्तो धनुष्मता ।
   प्राज्ञेन तु मतिः क्षिप्ता हन्याद गर्भगतानपि/कौ0अ0159 /6/1
2. नवमवाप्य ------- अनुवर्तेत/कौ0अ0176/5/3

के सिद्धान्तों का स्थान है । इस कथन को पुष्टि चाणक्य की युद्धनीति से होती है । वह युद्ध के पक्षपाती नहीं है, लेकिन यदि अनिवार्य हो जाए तो किसी रूप से भी उसमें विजय प्राप्त करनी चाहिए और यदि विजय की सम्भावना न हो तो किसी भी रूप में समझौता या सन्धि कर लेनी चाहिए । विजय की स्थिति में प्रेम, विनय और उदारता के माध्यम से शत्रुता समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए ।

आचार्य चाणक्य ने अपने राजनैतिक दर्शन में युद्ध से अधिक संधि को महत्व दिया है । उन्होंने सातवें षाड्गुण्य अधिकरण के अठारह अध्यायों में सन्धि और मित्रता के विभिन्न पक्षों पर अति सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि वह युद्ध की अपेक्षा मित्रता में अधिक विश्वास करते है ।

आचार्य चाणक्य का 'षाड्गुण्य' सिद्धान्त इस विषय में महत्वपूर्ण है । यह सिद्धान्त पर राष्ट्रनीति का निर्देशक है । इसके अनुसार पर राष्ट्र-नीति में छः प्रमुख गुण या तत्व होते है, जो इस प्रकार हैं - सन्धि -राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना, 2. विग्रह-युद्ध का कोई अपकार करना, 3. आसन, उपेक्षा करना, 4. यान-आक्रमण करना, 5. संश्रय-आत्मसमर्पण करना 6. द्वैधीभाव - संधि और विग्रह दोनों से काम लेना ।[1]

आचार्य चाणक्य ने पर राष्ट्र नीति के सम्बन्ध में मंडल सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है । डा० बेनी प्रसाद ने लिखा है कि इस सिद्धान्त से शक्ति का सन्तुलन छोटे-बड़े राज्यों में स्थापित रहता है । ये राजा दूसरे से भयभीत नहीं रहता है । प्रोफेसर जिमर ने कौटिल्य के मंडल-सिद्धान्त की बड़ी प्रशंसा की है उनके अनुसार आज भी विभिन्न राज्य अपने हितों को दृष्टि में रखते हुए, संघ या मंडल

---

1. सन्धिविग्रहसनयानद्वैधीभावा: षाड् गुण्यमित्याचार्य:कौ०अ० 98/1/2

बना लेते हैं । यदि मंडल के किसी सदस्य पर आपत्ति आती है, तो मण्डल के अन्य राज्य उसकी सहायता करते हैं । आज भी समाजवादी गुट, पूंजीवादी गुट, निर्गुट देश, कॉमनवेल्थ देश आदि ऐसे ही मण्डल हैं । आचार्य चाणक्य ने मण्डल-सिद्धान्त के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शाश्वत तत्व का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है ।

9- कर्मचारी तंत्र

राज-व्यवस्था में कर्मचारी तंत्र (ब्यूरोक्रेसी) का अपरिहार्य स्थान है । कोई भी शासक कर्मचारियों की सहायता के बिना प्रशासन नहीं कर सकता । आधुनिक समाज शास्त्रियों ने कर्मचारी तंत्र पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया है । जर्मनी के विद्वान मैक्स वेबर कर्मचारी तंत्र के बहुत बड़े व्याख्याकार माने जाते हैं । लेकिन आचार्य चाणक्य ने लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व कर्मचारीतंत्र का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया था, उसे पढ़कर आश्चर्य होता है ।

आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि प्रशासन के लिए आमात्यों और कर्मचारियों की नितान्त आवश्यकता है, लेकिन इस तथ्य से भी पूर्ण अवगत हैं कि जहां कर्मचारी शासन का हित करते हैं, वहीं, शासन की शिथिलता से वे शासनतंत्र को अतीव क्षति पहुंचा सकते हैं । चाणक्य राज्य को दो वर्गों से बचाने की बात कहते हैं, एक सरकारी कर्मचारी और दूसरे व्यापारी । एक स्थान पर तो उन्होंने चोरों और सरकारी कर्मचारी को एक ही श्रेणी में रखा है । सरकारी कर्मचारी अनेक प्रकार से जनता और राज्य की क्षति पहुंचाते हैं । चाणक्य ने ऐसे लगभग चालीस भ्रष्टाचारों का उल्लेख किया है, जैसे -पहली फसल में प्राप्त धन को अगली फसल के समय लिखना, राजकर वसूल ही न करना और राजकर से मुक्त प्रजा से धोखा देकर या कानून कर वसूल करना, एक के स्थान पर दूसरी वस्तु लिख लेना, देय धन न देना,

एक को देकर दूसरे का नाम लिख लेना, जिन कर्मचारियों ने कभी काम न किया हो उनका नाम लिखकर वेतन निकाल लेना, तौल के बाँट और बर्तनों के नाप में गड़बड़ कर देना आदि। कर्मचारी अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करें इसके लिए बड़े कठोर नियम बनाए गए थे। इनका विशेष रूप से "अर्थशास्त्र" के प्रकरण चौरासी में वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिए, खानों में काम करने वाले यदि रत्नों की चोरी करें तो उन्हें प्राणदण्ड दिया जाए। यदि राजकीय वेतों में काम करने वाले दस पण मूल्य की वस्तु चुराएं तो उन्हें प्राणदण्ड दिया जाए। अधिकारी की लापरवाही से कैदी जेल से भाग जाए, तो उसकी सम्पत्ति जब्त करके उसे प्राणदण्ड दिया जाए।[1] इसके अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियों के अनेक अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की गई थी। आचार्य का इस सम्बन्ध में स्पष्ट सिद्धान्त है कि राजा को चाहिए कि वह पहले कर्मचारियों को दण्ड से शुद्ध करें। फिर वे विशुद्ध हुए राजकर्मचारी दण्ड-व्यवस्था के द्वारा नगर तथा प्रदेश की जनता को सही रास्ते पर लाएं।[2]

आचार्य चाणक्य ने सरकारी कर्मचारियों की भर्ती और उनकी प्रोन्नति के नियम निर्धारित किए थे। ईमानदार और कर्मनिष्ठ कर्मचारियों को पुरस्कृत करने की भी व्यवस्था थी। चाणक्य की शासन व्यवस्था में नकद वेतन दिया जाता था तथा प्रत्येक कर्मचारी का वेतन मान निश्चित था। "अर्थशास्त्र" में प्रकरण तेरानवे में प्रत्येक प्रकार के सरकारी कर्मचारी वेतन का उल्लेख है। "चाणक्यसूत्राणि" में

---

1. समाहर्तुरुपदेष्टारः————————वधवध/को0308ब/9
2. स्वमर्थयन् पूर्वं राजा दण्डेन शोधयेत्।
शोधयेच्च ततस्तो पौरजानपदान् दमैः/को0308ब/9/1

अनेक स्थलों पर कर्मचारियों को राज्य के प्रति निष्ठावान रहने का निर्देश दिया गया है ।

10- लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

आचार्य चाणक्य के राज-दर्शन का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के उपरान्त अनेक प्रश्न उठते हैं, जैसे उनकी दण्ड-व्यवस्थाओं के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह बहुत कठोर हैं । इसी प्रकार युद्ध की नीति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह किसी रूप में भी युद्ध जीतने में विश्वास करते हैं । जनता से करों की वसूली आदि के सम्बन्ध में वह निर्ममता का आभास देते हैं । लेकिन यदि उनके समग्र दर्शन पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि आचार्य चाणक्य मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों, काम, क्रोध, लोभ, मोह के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । उनका विश्वास है कि अधिकांशतः मनुष्य उच्च आदर्शों और नैतिक मूल्यों से स्वतःपरिचालित नहीं होते हैं, अपितु दण्ड के भय से ठीक कार्य करते हुए, ईमानदार रहते हैं । इसीलिए चाणक्य-दर्शन में दण्ड को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है । दण्ड के भय से प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने निर्धारित कर्तव्यों की सीमा में रहता है । जिससे समाज का संगठन और कार्य सुचारु रूप से संचालित होता रहता है । दण्ड से अपराधी मनोवृत्ति के कुछ लोगों को कष्ट अवश्य होता है लेकिन अधिकांश लोगों का कल्याण होता है । दूसरे शब्दों में, उनकी दण्ड-व्यवस्था बहुजन हिताय है ।

आचार्य चाणक्य प्रजा के हित को सर्वोपरि मानते हैं । जिस राज्य में प्रजा सुखी नहीं है उसका अस्तित्व स्थायी नहीं है । इसी-लिए वह केवल राजकर्मचारियों पर ही कठोर अनुशासन नहीं लागू करते

बल्कि सबसे पहले राजा को जितेन्द्रिय होने का निर्देश देते हैं। उन्होंने राजा की जो योग्यताएं निर्धारित की हैं, उनसे जनता का सदा कल्याण ही होने की सम्भावना है। वह किसी भी स्थिति में अयोग्य, कायर, मूर्ख और अविवेकी शासक को स्वीकार नहीं करते। यदि किसी स्थिति में योग्य शासक न प्राप्त हो सके, तो वह पंचायत-प्रणाली या प्रजातंत्र का समर्थन करते हैं। इसी से स्पष्ट होता है कि आचार्य चाणक्य के समक्ष सबसे पहला और अन्तिम लक्ष्य जनता का कल्याण करना है।

आचार्य चाणक्य केवल सिद्धान्त रूप में ही जनता के कल्याण की बात नहीं करते हैं, बल्कि "अर्थशास्त्र" में अनेक ऐसे उपायों का उल्लेख करते हैं जिनसे जनता की सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, धार्मिक उन्नति हो सके। इस दृष्टि से, वह समाज के बहुमुखी विकास के लिए पूर्ण रूप से संकल्पित प्रतीत होते हैं। उनके राजधर्म की सर्वोपरि विशेषता यह है कि उनका समग्र चिन्तन यथार्थवादी सिद्धान्तों पर आधारित है। जब वह कहते हैं कि सुख का मूल धर्म है और धर्म का मूल अर्थ है तथा अर्थ का मूल राज्य है और राज्य का मूल इन्द्रिय-विजय है, तो आचार्य एक महान् यथार्थवादी और आदर्शवादी सिद्धान्तों के समन्वयकर्ता प्रतीत होते हैं। आचार्य चाणक्य की लोक-कल्याण की कल्पना में व्यक्ति, समाज और राज्य तीनों अनुशासित और नियोजित रूप में उदात्त लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं।

—

अध्याय-8

"चाणक्यसूत्राणि" का धर्म-दर्शन

"चाणक्य सूत्राणि" का प्रथम सूत्र सुख का मूल धर्म है ।[1] "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में प्रथम प्रकरण के प्रथम सूत्र में चार विद्याओं के अध्ययन के लिए कहा गया है उनमें पहली विद्या आन्वीक्षकी और दूसरी विद्या त्रयी है । आन्वीक्षकी में सांख्य-दर्शन, योग-दर्शन और लोकायत-दर्शन आते हैं, और त्रयी में साम वेद, ऋग्वेद और यजुर्वेद आते हैं ।[2] "चाणक्य नीतिदर्पण" भी कहती है कि इस शास्त्र को जो विधिपूर्वक पढ़कर धर्मशास्त्र की शिक्षा में प्रसिद्ध कर्तव्याकर्तव्य और सत्-असत् का ज्ञान कर लेता है, वह उत्तम पुरुष है ।[3] इस प्रकार चाणक्य के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक दर्शन की आधारभूत विचारधारा धर्म से अनुप्राणित है और इस पर आधारित है । विगत अध्यायों में व्यक्तित्व परिवार, विवाह, सामाजिक संरचना ,राजनैतिक दर्शन, आदि का जो विवेचन किया गया है, उससे चाणक्य के धार्मिक परिप्रेक्ष्य का आंशिक परिज्ञान होता है । किन्तु उनके समग्र धर्मदर्शन का संश्लिष्ट रूप से संबोध नहीं हो पाता है । प्रस्तुत अध्याय में उनके सामाजिक धर्म-दर्शन के विश्लेषण का यथासम्भव प्रयास किया जाएगा ।

---

1. सुखस्य मूलं धर्मः/ चा0सू0 ।
2. आन्वीक्षकी . . . . . च करोति / कौ0अ01/1/1-6
3. अधीत्येदं यथाशास्त्रं नरो जानाति सत्तमः/
धर्मोपदेश विख्यातं कार्याकार्य शुभाशुभम्/चाणक्यनीतिदर्पण,8 श्लोक-2

1. धर्म की समाज दार्शनिक संकल्पना

धर्म मानव-समाज की सार्वभौम विशेषता है, संस्कृति का अपरिहार्य अंग है । यह विश्व के प्रमुख विचारकों का सर्वाधिक प्रिय विषय है तथा सामान्य जनता का अन्तिम आश्रय है । सृष्टि के आदि काल से ही धार्मिक प्रश्न मनुष्य के चिन्तन के जटिल विषय रहे हैं । सभ्यता के इस चरमोत्कर्ष-काल में ये प्रश्न समाप्त नहीं हुए हैं । इस युग में भी इसकी गम्भीरता और गरिमा अक्षुण्य है । यही कारण है कि मानवीय ज्ञान की विभिन्न शाखाओं ने धर्म को अपने-अपने दृष्टिकोणों से विवेचन-विश्लेषण का विषय बनाया है । समाज-दर्शन और समाज शास्त्र दोनों ने धर्म के अध्ययन का मौलिक प्रयास किया है । यह अन्य शास्त्रों से भिन्न है । इसलिए धर्म की संकल्पना भी किसी सीमा तक भिन्न है । चाणक्य का धर्म-दर्शन समाज दार्शनिक परिप्रेक्ष्य के अत्यन्त निकट है ।

धर्म की अनेक परिभाषाएं उपलब्ध हैं ।[1] भारतीय आचार्यों और ऋषियों ने ही अनेक परिभाषाएं लिखी हैं । महर्षि कणाद कहते हैं, " जिससे लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण हो अथवा मोक्ष प्राप्त हो वह धर्म है ।" योगिराज अरविन्द के अनुसार, "धर्म मनुष्य के अन्दर ऐसी प्रेरणा, भावना, प्रवृत्ति एवं विधि व्यवस्था है, जिसका लक्ष्य स्पष्ट रूप से भगवान है ।"[2]

---

1. डा०पी०वी०काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ।
   डा० राधाकृष्णन, धर्म और समाज
   राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, धर्मग्रंथ:
   मैक्स वेबर , दि रिलीजन ऑफ इण्डिया
2. डा० कैलाश मोटवानी, श्री अरविन्द ऑन सोशल साइंसेज

पश्चिमी समाज शास्त्र के जन्मदाता आगस्ट काम्टे का मत है, "धर्म पूर्ण रूप से एकता की स्थिति को व्यक्त करता है जो व्यक्ति के रूप में तथा समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य का विशिष्ट लक्षण है, जब उसकी प्रकृति के नैतिक-भौतिक समस्त निर्माणात्मक तत्व स्वभावतः एक सामान्य लक्ष्य की ओर मिलाए जाते हैं।"[1]

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साँइसेज-" धर्म अतिमानवीय शक्तियों के साथ मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध का लेखा है।"[2]

जॉन स्प० क्यूबर-" धर्म सांस्कृतिक रूप से निर्धारित आचरण का प्रतिमान है जिसके अन्तर्गत 1-पवित्र विश्वास 2- विश्वासों से सम्बन्धित सौगात्मक भावनाएं 3- विश्वासों और भावनाओं को व्यावहारिक रूप देने वाले बाह्य आचरण आते हैं।"[3]

इमाइल दुर्खीम -" धर्म पवित्र बातों से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की एकीकृत प्रणाली है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि समाज दार्शनिक धर्म को वैयक्तिक या पारलौकिक तत्व नहीं मानते हैं, अपितु उनके अनुसार धर्म समाज की आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न हुआ। यह सतत रूप में समाज को प्रभावित करता रहता है। इन परिभाषाओं में कोई नया तत्व उद्घाटित नहीं किया गया है। भारत का धर्म आदि काल से समाज सापेक्ष रहा है अर्थात् यह केवल व्यक्ति के मोक्ष का साधन नहीं है, अपितु समाज के उन्नयन का माध्यम है। डा० राधाकृष्णन ठीक ही

---

1. स्प०एल०मार्विन, काम्टे, पृ० 120
2. (सम्पादक) एडविन आर०ए०सेलिग्मैन, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज
3. जॉन स्प० क्यूबर, सोशियोलॉजी, पृ० 566
4. चित्रा त्रिपाठी, इमाइल दुर्खीम, पृ० 52

कहते हैं कि धर्म की अवधारणा के अन्तर्गत हिन्दू उन पद्धतियों और प्रक्रियाओं को लाते हैं, जो मानव-जीवन का निर्माण करती है तथा उसे बनाए रखती हैं।

2- चाणक्य के धर्म का रूप

आचार्य चाणक्य किसी नए धर्म के प्रवर्तक नहीं हैं। वह विश्व के अन्तिम वैदिक धर्म के संवाहक और परिपोषक हैं, किन्तु उनके ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि वह मूल आधार को परिवर्तित किए बिना भी धर्म को नया रूप देना चाहते हैं जिससे धर्म, मनुष्य और समाज के बहुमुखी विकास में अधिक प्रेरक, अधिक रचनात्मक तथा अधिक व्यवस्थित हो सके। चाणक्य की धार्मिक संकल्पना के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि वह वैयक्तिक धर्म और सामाजिक धर्म दोनों के लक्ष्यों में अन्तर करते हैं। "चाणक्यसूत्राणि" के प्रारम्भ में पाँच सूत्र विशेष विचारणीय हैं :- धर्म सुख का मूल है।[1] 2- धर्म का मूल अर्थ है।[2] 3- राज्य ही अर्थ का मूल है।[3] 4- जितेन्द्रिय होना राज्य का मुख्य कारण है।[4] 5- विनय ही इन्द्रियों पर विजय पाने का मुख्य कारण है।[5] इस विवेचन से ज्ञात होता है कि धर्म का लक्ष्य सुख या आनन्द प्राप्त

---

1. सुखस्य मूलं धर्मः/चा०सू० 1
2. धर्मस्य मूलमर्थः/चा०सू०2
3. अर्थस्य मूलं राज्यम् /चा०सू०3
4. राज्यमूलमिन्द्रिय जयः/ चा०सू० 4
5. इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः/चा०सू० 5

करना है । इस सम्बन्ध में कोई विशेष मतभेद की बात नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण आध्यात्मिक भावना का लक्ष्य परमानन्द प्राप्त करना है । यहाँ आनन्द आत्म-साक्षात्कार, कैवल्य आदि से प्राप्त किया जा सकता है । लेकिन परम्परा के अनुसार अनेक आचार्यों ने अर्थ को अनर्थ कहा है और सम्पूर्ण परित्याग करने का उद्घोष किया है । यहाँ चाणक्य सुख के लिए धर्म और धर्म के लिए अर्थ कहकर, धर्म को धन पर आश्रित कर देते हैं । इससे कुछ आश्चर्य होता है लेकिन इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि चाणक्य धर्म की दो परिदृष्टियाँ प्रदान करते हैं -- एक वैयक्तिक और एक सामाजिक । यदि धर्म को समाज का नियामक और नियन्ता बनना है, तो उसे मनुष्य और समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में भी मार्ग-दर्शन करना होगा । यद्यपि इसमें भी कोई नई बात नहीं है, क्योंकि हमारे यहाँ पुरुषार्थों की जो योजना प्रस्तुत की गई है, उसके अनुसार मनुष्य के तीन लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम बताए गए हैं । अधिकांश आचार्यों ने धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया है और धर्म के लिए धन तथा काम के त्याग की बात कही है । लेकिन आचार्य चाणक्य साहसपूर्वक कहते हैं कि धर्म और काम की प्राप्ति बिना अर्थ के सम्भव नहीं । इस कथन में बहुत बड़ा व्यावहारिक सत्य है । सामान्य मनुष्य का शरीर अन्न, फल-फूल, वस्त्र, औषधि, निवास आदि के अभाव में रह नहीं सकता । शरीर ही धर्म-कर्म का माध्यम होगा । ये सब साधन अर्थ से ही प्राप्त हो सकते हैं । इसके उपरान्त पूजा-पाठ, यज्ञ आदि कर्मकाण्डों में भी अनेक प्रकार के भौतिक साधनों की आवश्यकता होती है । यह सब अर्थ से ही साध्य होते हैं । ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में व्यक्ति धनोपार्जन नहीं करता है, किन्तु उसकी भौतिक आवश्यकताएँ वर्तमान रहती हैं और उनकी पूर्ति अर्थ जिसके पास है वही कर सकता है । इसी प्रकार गृहस्थ के लिए धन के बिना कोई कार्य सम्भव नहीं । सब आश्रमों में धन या अर्थ किसी -न- किसी रूप में अनिवार्य-सा हो जाता है । यदि धन

नहीं रहता है, तो गृहस्थ ही नहीं । वैराग्यवृत्ति के लोगों का भी मन दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चंचल हो जाता है । अतः चाणक्य यह कहते हैं कि धर्म का मूल अर्थ में है, तो वह एक व्यावहारिक तथ्य को व्यक्त करते हैं । लेकिन यहाँ अर्थ को परिसीमित कर देते हैं । वह अर्थ प्राप्त करने की तीन प्रकार की कोटियाँ बताते हैं । समाज के रक्षक और पोषक राजा के लिए वह कहते हैं कि उसे धन से संतुष्ट नहीं होना चाहिए ।[1] अधिक-से-अधिक धन अर्जित करे जिससे अधिक -से-अधिक लोगों का कल्याण कर सके । वह गृहस्थ से कहते हैं उसे अपने अर्थोपार्जन के उपायों को बन्द नहीं करना चाहिए जिससे उसके आश्रित और समाज के अन्य वर्गों का समुचित पालन-पोषण होता रहे, किन्तु वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम के लोगों को अर्थोपार्जन के प्रयासों को न करने का निर्देश देते हैं । इतना ही नहीं वह गृहस्थ को भी सावधान करते हैं कि वह अर्थ पिपासु न बने । सत्कर्म से धन का उपार्जन करे और सत्कार्यों में धन का उपयोग करें । उनका मत है कि बहुत अधिक धन अनुचित उपायों से ही अर्जित किया जा सकता है, अधिक धन से मनुष्य की सद्वृत्तियों का विनाश होता है ।[2] वास्तव में चाणक्य के पूर्व बौद्ध धर्म के कारण देश में वैराग्यवृत्ति का अत्याधिक प्रभाव हो गया था जिसके कारण अनगिनत लोग भिक्षुक बनकर अकर्मण्यता का प्रसार कर रहे थे । देश निर्बल हो रहा था, विदेशी आक्रमण होने लगे थे । भारत की प्रतिरोधात्मक वृत्ति क्षीण हो गई थी । किसी राष्ट्र को सक्षम बनाने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है जो अर्थ से ही सम्भव है ।[3]

---

1. अर्थतोऽस्य श्रीः परित्यजति/चा०सू०77
2. न चात्मनापि पश्यत्यैश्वर्यान्धः न शृणोतीष्टं वाक्यम् ।
   चा०सू० 511
3. अर्थ मूलं कार्यम् / चा० सू० 92

इसीलिए आचार्य चाणक्य ने अर्थ और धर्म के सन्तुलन को स्थापित करने का प्रयास किया । त्रिवर्ग का तीसरा तत्व काम है । काम बहुत बड़ी शक्ति है इसका समुचित नियन्त्रण होने से यह व्यक्ति को अपरिमित शक्ति दे सकता है और दुरुपयोग होने से यह समाज में अव्यवस्था पैदा सकता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विनाश कर सकता है । अर्थहीन राजा और प्रजा दोनों राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकते तथासमाज के संगठन को सुरक्षितनहीं रख सकते हैं । काम सृष्टि का आधार है, लेकिन यह व्यक्ति को कुपथगामी भी बना सकता है और अपार क्षति भी पहुंचा सकता है । इसलिए आचार्य चाणक्य बार-बार चारों आश्रमों के व्यक्तियों को जितेन्द्रिय होने का उपदेश देते हैं , इसलिए गृहस्थाश्रम की उपेक्षा नहीं करते हैं, किन्तु गृहस्थ को भी इन्द्रिय निग्रह का महत्व बताते हैं ।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि आचार्य चाणक्य तीन पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ और काम में संतुलन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । तथा क्रम में प्रथम स्थान गृहस्थ और राजा के लिए अर्थ को देते हैं और ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा सन्यासी के लिए धर्म को प्रथम स्थान प्रदान करते हैं । एक ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास चारो अवस्थाओं में से होकर निकलता है, इसलिए वह तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त करने का प्रयास करेगा, किन्तु प्रत्येक अवस्था में पुरुषार्थों को प्राप्त करने का लक्ष्य या प्राथमिकता भिन्न-भिन्न होगी ।

धर्म का लक्ष्य पुरुषार्थों की सम्यक् प्राप्ति है। यह कार्य कैसे सम्पन्न किया जाए, इस सम्बन्ध में भी आचार्य चाणक्य ने स्पष्ट मत व्यक्त किया है । उनके समय तक धर्म का रूप पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था ।

---

1. स्त्रियोऽपि स्त्रैणमन्यते/चा0सू0318/न्यूनपार्थो स्त्रियति पुरुषकामम्/ चा0 319

वैदिक युग, ब्राह्मण-युग, उपनिषद-युग, बौद्ध-युग, महाकाव्य-युग आदि में अनेक सैद्धान्तिक-परिवर्तन हुए थे। वैदिक युग और ब्राह्मण-युग में यज्ञ तथा कर्मकाण्ड की प्रधानता थी उपनिषद-युग में निर्गुण उपासना और ज्ञान के महत्व को प्रतिपादित किया गया था। बौद्ध-धर्म ने आचार प्रधान धर्म की प्रतिष्ठा का प्रयास किया। महाकाव्य-युग में आते हुए हिन्दू समाज ने भक्ति और सगुण उपासनाओं के तत्व को ग्रहण कर लिया। आचार्य के समक्ष एक विशाल ज्ञान-राशि थी और एक सुदीर्घ धार्मिक परम्परा थी जिसमें अनेक मत और मतान्तर थे। जनता किसी सीमा तक प्रवृत्ति और निवृत्ति, निर्गुण और सगुण, ध्यान और कर्म आदि के सन्दर्भ में दिग्भ्रमित थी। आचार्य ने इस भ्रम का निवारण करने के लिए एक सन्तुलित धर्म-दर्शन प्रस्तुत किया जिसमें न्यूनाधिक रूप में अतीत की विभिन्न प्रवृत्तियों का सम्यक् समाहार था।

आचार्य चाणक्य स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि वेद धर्म का स्त्रोत है, अतः वह वैदिक धर्म के समस्त महत्वपूर्ण पक्षों को स्वीकार करते हैं। वह वेदों द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम-व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं - यज्ञ और कर्मकाण्ड पर भी विश्वास करते हैं। देवताओं और पितरों पर भी उनकी आस्था है। "चाणक्य-सूत्राणि" और अर्थशास्त्र -[1] में स्पष्ट रूप से इनको स्वीकार किया गया है, लेकिन वह केवल कर्मकाण्ड को ही धर्म नहीं मानते हैं। वह उपनिषदों के आत्म-तत्व को विशेष महत्व देते हुए प्रतीत होते हैं। "चाणक्य-सूत्राणि" में अनेक स्थलों पर यह प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करना है।[2] सांसारिक दुःखों से मुक्ति केवल आत्मसाक्षात्कार से ही सम्भव है आत्मसाक्षात्कार

---

1. स्वधर्मो ..... कर्म च /कौ0अ01/2/3
2. आत्मा हि व्यवहारस्य साक्षी/चा0सू0 548

ज्ञान प्राप्ति से ही हो सकता है । चाणक्य के चिन्तन में ज्ञान की महत्ताका सर्वोपरि स्थान है । "चाणक्य सूत्राणि" और "अर्थशास्त्र" दोनों इस मत की पुष्टि करते हैं । जैसे -अपने अनुभव और विचार शक्ति के सहारे से परिणाम के कारणों का ठीक-ठीक पता लगाकर किस कारण से यह काम इस प्रकार होना है अपना कर्तव्य स्थिर करे।[1] विद्या और विनय का हेतु इन्द्रियजय है । कर्तव्यों के सम्यक् अनुष्ठान को इन्द्रियजय कहते हैं, शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है ।[2] योग का उल्लेख ऋग्वेद में आता है । उपनिषदों में इसका विस्तृत विवेचन हुआ है । लगभग अठारह उपनिषद ऐसे हैं जिनमें मंत्र-योग, हठ-योग, राज-योग, ध्यान-योग का विस्तृत वर्णन है । महाभारत में भी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि का विवेचन है । बौद्धों और जैनों ने भी योग की महत्ता को स्वीकार किया था । गीता अनेक प्रकार के योगों का वर्णन करती है ।[3] तात्पर्य यह है कि आचार्य चाणक्य के पूर्व योगशास्त्र की भी परम्परा पर्याप्त विकसित हो चुकी थी । आचार्य ने अपने धर्म-विवेचन में योग को भी समाहित किया । "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में कहा गया है कि सांख्य, योग और लोकायत (नास्तिक दर्शन), ये आन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत हैं । इसी प्रकार त्रयी में धर्म-अधर्म , वार्ता में अर्थ-अनर्थ और दण्डनीति में सुशासन-दुःशासन का ज्ञान प्रतिपादित है । "त्रयी आदि विद्याओं की प्रधानता - अप्रधानता को, भिन्न-भिन्न युक्तियों से, निर्धारित करती हुई आन्वीक्षकी विद्या लोक का उपकार करती है, सुख-दुःख में बुद्धि को स्थिर करती है । सोचने, बोलने, विचारने तथा कार्य करने में क्षम बनाती है"[4]

---

1. ज्ञानानुमानैश्च परीक्षाकरणा/चा०सू०1।6
2. विद्याविनय हेतु . . . . त्योविनश्यति/कौ०अ03/5/1-2
3. कल्याण, श्रीयोगांक
4. सांख्यं . . . करोति /कौ०अ० 1/1/6

अन्यत्र वह कहते हैं, "योगशास्त्रों में रुचि और योग से आत्मबल प्राप्त होता है ।"[1]

योग के अनेक भेद-उपभेद हैं, उनमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग प्रधान हैं । "चाणक्य सूत्राणि" में इन तीनों योगों की महत्ता प्रतिपादित की गई है ।

आचार्य चाणक्य कर्महीन जीवन की सर्वत्र निन्दा करते हैं । कर्म से कोई भी कार्य असम्भव नहीं होता ।[2] कर्म ही व्यक्ति का सच्चा सहायक है ।[3] चाणक्य पुरुषार्थ के समक्ष भाग्य को कोई महत्व नहीं देते हैं । उनका मत है कि कर्म के पीछे भाग्य चलता है ।[4] यदि आदमी विवेक पूर्वक कोई कार्य करता है तो उसे सफलता अवश्य मिलती है । लेकिन साथ ही आचार्य यह भी कहते हैं, "कार्य करने से पहले उसके परिणामों पर विचार अवश्य कर लेना चाहिए ।"[5] व्यक्ति को मृत्यु को अपना कर्तव्य टालना नहीं चाहिए,[6] जब अनुकूल समय हो, तो अवश्य करना चाहिए ।[7] इस प्रकार चाणक्य के जीवन-दर्शन में कर्म की विशेष महत्ता है । वह कर्तव्य पालन को सर्वाधिक महत्व देते हैं । ज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने अनेक मत व्यक्त किए हैं । आचार्य की दृष्टि में वेदों और शास्त्रों का ज्ञान तो आवश्यक है, लेकिन वह आत्मज्ञान

---

1. श्रुताद्धि . . . . . सामर्थ्यम्/कौ०अ02/4/2
2. कार्यार्थिनाभुपाय एव सहायः/ चा०सू० 94
3. उपायपूर्वं न दुष्करं स्यात्/चा०सू० 96
4. पुरुषकार मनुवर्तते दैवम् / चा०सू० 98
5. पूर्वं निश्चित्य पश्चात् कार्यमारभेत् /चा०सू० 101
6. कालातिक्रमात् काल एव फलं पिबति/चा०सू० 108
7. कालविद् कार्यं साधयेत् /चा०सू० 107

करना है । वह कहते हैं कि मानव-समाज सत्य से ही सुव्यवस्थित रहता है ।[1] ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि ज्ञानी व्यक्तियों के लिए संसार में कोई भय नहीं रहता है ।[2] ज्ञानी व्यक्ति अपने मन को ब्रह्मानन्द रूपी दीपक से आलोकित करके रखता है और संसार-बन्धन में फंसने से बच जाता है ।[3] आचार्य चाणक्य भक्ति योग की महत्ता स्वीकार करते हैं । उन्होंने "अर्थशास्त्र" में देव और पितरों की पूजा का निर्देश दिया है तथा राजा के लिए पुरोहित की व्यवस्था की है, जो समस्त धार्मिक [illegible] कर्मकाण्डों को करे ।[4] उनकी दुर्ग-व्यवस्था में मन्दिरों के निर्माण का भी निर्देश है, जिनमें दुर्गा, विष्णु, लक्ष्मी आदि की स्थापना करनी चाहिए ।[5] इससे चाणक्य की भक्तियोग सम्बन्धी आस्था का परिचय मिलता है । "देव बुद्धि से पूजे जाने वाले स्थान, प्रतिमा, चित्रादि वस्तु या देव-चरित्र वाले श्रेष्ठ व्यक्तियों का प्रमाद या आलस्य से कभी भी अपमान न करना चाहिए ।"[6]

---

1. सत्येन धार्यते लोकः/ चा0सू0 419
2. न संसारभयं ज्ञानवताम् /चा0सू0 564
3. विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते /चा0सू0 565
4. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनृशंस्यं क्षमा च/कौ0अ01/2/3
5. अपराजिता . . . . दिग्देवताः/कौ0अ020/4/1
6. न कदापि देवताऽवमन्तका/चा0सू0 402

योग में यम और नियम का बड़ा महत्व प्रतिपादित किया गया है, इनके पालन से साधना में सहायता तो प्राप्त होती ही है । इसके अतिरिक्त व्यक्तित्व के विकास और समाज के नियन्त्रण के लिए भी ये आवश्यक हैं । यम पांच हैं -1- अहिंसा, 2- सत्य, 3- अस्तेय, 4- ब्रह्मचर्य तथा 5- अपरिग्रह । नियम पांच है -1-शौच, 2-संतोष, 3- तप ,4- स्वाध्याय तथा 5- ईश्वर प्रणिधान । "चाणक्य सूत्राणि" में इन [illegible] धर्मों और नियमों का विवेचन किया गया है ।

चाणक्य के राजनैतिक विचारों को पढ़कर पाठकों को भ्रम होता है कि चाणक्य अहिंसा में विश्वास नहीं करते । लेकिन आचार्य का राजधर्म वैयक्तिक धर्म से भिन्न है । वह धर्म का लक्षण अहिंसा को मानते हैं ।[1] लेकिन दुष्ट के संहार को हिंसा नहीं मानते हैं । सत्य के सम्बन्ध में कहते हैं," सत्य मनुष्य को अखण्ड सुख प्रदान करता है ।[2] सत्य साधना से बड़ा कोई तप नहीं है ।[3] असत्य से बड़ा कोई पाप नहीं है ।[4] परधन लोलुपता को व्यक्ति के विनाश का कारण माना है ।[5] किसी का तिनका ~~तिनका~~ जितना क्षुद्र धन भी नहीं चुराना चाहिए ।[6] मृत्यु का पाश चोरी के पाश से अधिक दुःखदायी नहीं होता ।[7] चाणक्य ने जितेन्द्रिय को कहा है कि ऐसा व्यक्ति सब कुछ प्राप्त कर सकता है । वह विवाह को एक स्वीकृत अपराध मानते हैं उनके अनुसार विवाह केवल सन्तानोत्पादन के लिए है । अनेक स्थलों पर वह काम से सावधान रहने

---

1. अहिंसालक्षणो धर्मः/चा०सू०561
2. स्वर्गं नयति सूनृतम् /चा०सू० 416
3. नास्ति सत्यात्परं तपः/ चा०सू० 417
4. नानृतात्पातकं परम् /चा०सू० 421
5. परविभवेऽवादरोपि विनाशमूलम् /चा०सू०267
6. पलालमपि परद्रव्यं न हर्तव्यम् /चा०सू०268
7. न चौर्यात् परं मृत्युपाशः/चा०सू०270

की शिक्षा देते हैं । स्त्री सभी अंगों का क्षेत्र है ।[1] अपरिग्रह के विषय में आचार्य जीवन रक्षण के लिए धन के महत्व को स्वीकार करते हैं । लेकिन अकारण धन संग्रह अनुचित कहते हैं । वह मानते हैं, ऐश्वर्य पैशाचिकता से रहित नहीं होता ।[2] धर्मोपासक दुष्कर्मों में श्रम नहीं करते हैं ।[3] इसीलिए वह नैतिक धन की अपेक्षा विद्याधन को श्रेष्ठ मानते हैं और ज्ञान को मनुष्य का परम कर्तव्य मानते हैं. योग्य पात्र में दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता ।[4] दान धर्म है ।[5] बदले में कुछ पाने की अपेक्षा न करके निःस्वार्थ दान ही श्रेष्ठ होता है ।[6]

नियमों में पहला स्थान शौच का है । इसका अर्थ है, बाह्य और अन्तर की शुद्धता । चाणक्य यह नियम प्रत्येक वर्ण के लिए निर्धारित करते हैं । बाह्य शुद्धता का सम्बन्ध शरीर, वस्त्र, पात्र, निवास-स्थान आदि की शुद्धता से सम्बन्धित है । अन्तर की शुद्धता मन से सम्बन्धित है । केवल बाह्य शुद्धता से कल्याण नहीं होता, जब तक मनुष्य का मन शुद्ध न हो । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबके लिए और प्रत्येक आश्रमके लिए यह धर्म है कि वह किसी प्रकार की हिंसा न करे, सत्य बोले, पवित्र बना रहे, किसी से ईर्ष्या न करे, दयावान और क्षमाशील बना रहे ।[7]

---

1. स्त्रीनाम सर्वाङ्गानां क्षेत्रम् /चा०सू०477
2. नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् /चा०सू० 353
3. नास्ति धर्मवतां दुष्कर्मसु श्रमः/चा०सू०354
4. नास्ति हव्यस्य व्याघातः/चा०सू०515
5. दानं धर्मः/चा०सू० 155
6. अपरमानपेक्षं केवलमर्थदानं श्रेयः/चा०सू०155 अधिक सूत्र
7. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनृशंस्यं/कौ०अ०1/2/3

आचार्य का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने सीमित साधनों के अन्तर्गत जीवन-यापन करना चाहिए, दूसरों को देखकर अपनी आवश्यकताएं नहीं बढ़ानी चाहिए । जो लोग ऐसा करते हैं, वे अपने को दुःख में फंसा लेते हैं ।[1] असंतोषी व्यक्ति ईर्ष्यालु परधन लोलुप हो जाते हैं ।[2] इस लालच को आचार्य नीच कर्म समझते हैं । केवल आर्थिक संतोष करने वाला व्यक्ति संतोषी नहीं होता, बल्कि जिसमें क्षमा और दया जैसे गुण होंगे वही वास्तविक संतोषी है[3] । आचार्य का मत है कि तप अर्थात् जितेन्द्रिय होने से सब कार्य सिद्ध होते हैं ।[3] तप से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, समस्त दुःखों का नाश होता है ।[4] विगत पृष्ठों में अनेक बार उल्लेख किया जा चुका है कि चाणक्य विद्या और ज्ञान को विशेष महत्व प्रदान करते हैं । ज्ञान दो तरह से प्राप्त किया जाता है, एक शास्त्रों के अध्ययन से और दूसरा सत्संग से । उनका मत है कि शास्त्रों के अनुशीलन से इन्द्रिय विजय की क्षमता प्राप्त होती है ।[5] तथा अनुचित भाव आने पर मन में अंकुश लगता है ।[6] सत्संग का आशय है जो शास्त्र का ज्ञान रखने के साथ अनुभवी भी हैं, उनसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । सत्संग ही स्वर्ग निवास है[7] । अन्तिम नियम ईश्वर प्रणिधान है, जिसका आशय है बिना फल की आशा के कर्मों को ईश्वर को समर्पित करना ।

---

1. स्वयमेव दुःखमधिरूढ़ति राजकर्मणि/चा०सू०463/अधिक सूत्र/
2. नाकृत्यमस्ति नरकान्निवर्तनम् /चा०सू० 439
3. जितात्मा स्वर्गिः संपद्येत/चा०सू०10
4. तस्मात्, सर्वेषां कार्यसिद्धिर्भवति/चा०सू०57।
5. इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम् /चा०सू० 300
6. अशास्त्रकार्यबुद्धा शास्त्रांकुशं निवारयति/चा०सू०30।
7. सत्संगः स्वर्गवासः/चा०सू० 519

अतः यदि जनता शत्रु-संहार के लिए छल-छद्म का प्रयोग करती है, तो उसे अकर्तव्य नहीं कहा जा सकता है और इसके लिए उन्हें लांछित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वेदों में शत्रुनाश के लिए अनेक प्रसंग आते हैं। रामायण, महाभारत में शत्रु-संहार को धर्म माना गया है। विशेष रूप से क्षत्रिय का तो ये परम कर्तव्य ही है। चाणक्य के अनुसार राज्य और धर्म के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि राजा धर्म का रक्षक है। यह उसका प्राथमिक कर्तव्य है कि वह सदा सावधान रहे कि उसके राज्य में समुचित रूप से धर्म का पालन हो। वह कहते हैं, " प्रत्येक वर्ण प्रत्येक आश्रम का यह धर्म है कि वह किसी प्रकार की हिंसा न करे, सत्य बोले, पवित्र रहे, ईर्ष्या न करे, दयावान और क्षमाशील बना रहे। अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। पालन न करने से लोक का नाश हो जाता है। इसलिए राजा का कर्तव्य है कि प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से हटने न दे। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा इस लोक और परलोक में सुखी रहता है। पवित्र, आर्य-मर्यादा में अवस्थित, वर्णाश्रम-धर्म में नियमित और त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा दुःखी नहीं होती सदा सुखी रहती है। "[1]

जहाँ राज्य की व्यवस्था होती है, वहाँ दण्ड का विधान अवश्य रहता है, अर्थात् जो व्यक्ति राज्य की आज्ञाओं का पालन नहीं करेगा, उसे दण्ड प्राप्त होगा। आचार्य चाणक्य ने धर्म के पालन के सन्दर्भ में समुचित दण्ड के प्रयोग का विधान किया है। आचार्य कहते हैं, " दण्ड को प्रतिपादित करने वाली नीति ही दण्डनीति कहलाती है। वही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराती है, प्राप्त की रक्षा करती है, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है और संवर्द्धित वस्तुओं को उचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। उसी पर संसार की लोकयात्रा निर्भर है।

---

1. सर्वेषां ..... तीदति /कौ0अ01/2/3-6

3. धर्म के विविध पक्ष

प्रत्येक धर्म जीवन और जगत् की मूलभूत नैतिक और दार्शनिक समस्याओं पर भी विचार करता है। आचार्य चाणक्य के धर्म - दर्शन में अनेक दार्शनिक और नैतिक जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त होता है।

सभ्यता के आदिकाल से मनुष्य विचार करता आ रहा है कि जीवन क्या है, इसका स्वरूप क्या है और अन्त किस रूप में होता है। आचार्य चाणक्य जहाँ एक ओर राज्य और समाज की अनन्त समस्याओं का सूक्ष्म से सूक्ष्म समाधान प्रस्तावित करते हैं। वहाँ ये मनुष्य के जीवन -दर्शन को भी स्पष्ट करते हैं। "चाणक्य सूत्राणि" में कहते हैं कि सम्पूर्ण सुख और उसके समस्त साधन अनित्य है।[1] जन्म और मरण में दुःख ही दुःख है।[2] ज्ञानी व्यक्ति को संसार में दुःख और भय नहीं रहता है।[3] तप से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[4] चाणक्य के ये विचार अति संक्षेप में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन - दर्शन को व्यक्त करने में सक्षम है इन्हीं विषयों पर उपनिषदों और वेददर्शनों में बहुत विस्तार से विचार किया गया है। आचार्य चाणक्य यह बोध कराते हैं कि भौतिक साधनों से प्राप्त भोग की वस्तुओं से प्राप्त आनन्द तथा सुख स्थायी नहीं है। इनका क्षणिक महत्व है। संसार में रहते हुए अनेक प्रकार के संघर्ष, क्लेश निराशाएँ, भग्न आशाएँ मनुष्य को अवश्य पीड़ित करेंगी, वह राजा हो या रंक। इसीलिए इस संसार को वह दुःख का स्थान कहते हैं। किन्तु यदि व्यक्ति संयम और तप से आत्मा का आत्मसाक्षात्कार करता है, ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है, तो वह इन दुःखों से परे हो जाता है तथा मोक्ष प्राप्त होने पर आवागमन जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह लक्ष्य है कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही मोक्ष प्राप्ति की ओर शनैः शनैः अग्रसर होने का प्रयास करता रहे। यह मोक्ष आचार्य चाणक्य के अनुसार वर्ण और आश्रम के सोपानों के माध्यम से ही प्राप्त किया जासकता है।

---

1. सर्वमनित्यं भवति / चा० सू० 566
2. जन्ममरणादिषु दुःखमेव / चा० सू० 568
3. न संसारभयं ज्ञानवताम् / चा० सू० 564
4. तपसा स्वर्गमाप्नोति / चा० सू० 569

आचार्य चाणक्य कर्म और अर्थ को बड़ा महत्व देते हैं लेकिन यह सब निर्देश गृहस्थों के लिए हैं । वानप्रस्थ और सन्यास में निष्काम कर्म का ही निर्देश देते हैं । आत्मा के उद्धार के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी के त्याग को कहते हैं । आचार्य योग के यम-नियमों के पूर्ण समर्थक प्रतीत होते हैं । हिन्दू-धर्म में तंत्र और मंत्र का बड़ा विशद विवेचन हुआ है । इस सम्बन्ध में प्राचीन विशाल साहित्य उपलब्ध है । व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त अनेक लौकिक कार्यों के संपादन के लिए तंत्र-मंत्र का उपयोग वैदिक काल से हो रहा था, बौद्ध लोग भी इससे अछूते नहीं रहे । आचार्य चाणक्य ने "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में तंत्र और मंत्र के प्रयोग का विस्तार से वर्णन किया है । उन्होंने अनेक मारक और मोहक उपायों की विधियाँ बताई हैं ।

आचार्य चाणक्य के धर्म - विवेचन की एक विशेषता है कि उनका धर्म निष्क्रिय और अकर्मण्य नहीं है । उनकी दृष्टि में शत्रु को पराजित करने के लिए कोई भी उपाय किया जा सकता है । इस सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है, "शत्रु की जिस निर्बलता पर प्रहार करके उसे नष्ट करना हो, उसका पता न चला लेने तक उसे कृत्रिम मित्रता के प्रदर्शनों से धोखे में रखो ।"[1] "शत्रु को अपनी निर्बलता का पता न चलने देकर उसकी दृष्टि में बलवान बना रहे ।"[2] छल-छद्म, जादू-टोना आदि का उपयोग अनुचित नहीं, यहाँ तक कि शत्रु नाश के लिए देवालयों, साधु-सन्यासियों के वेश से भी काम लिया जा सकता है । विशेष रूप से राजा किसी भी उपाय का अनुसरण करके शत्रु का नाश करे, तो वह धर्म ही है, अधर्म नहीं । स्वाभाविक है कि राजा स्वयं यह सब कार्य नहीं करेगा । इसके लिए उसे जनता का सहयोग अपेक्षित होगा,

---

1. यावच्छत्रोश्छिद्रं पश्यति तावदात्मन वा स्कन्धेनवा वाहयः/ चा०सू० 193
2. आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् / चा० सू० 195

आचार्य का कहना है कि कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो उठते हैं, परन्तु ढिलाई देने से भी लोक राजा की अवहेलना करता है । इसलिए राजा को समुचित दण्ड देने वाला होना चाहिए ।" राजा की दण्ड व्यवस्था से रक्षित चारों वर्णाश्रम, तारा लोक अपने-अपने धर्म कर्मों में प्रवृत्त होकर निरन्तर अपनी-अपनी मर्यादा पर बने रहते हैं ।"[1]

चाणक्य ने राजा और राज्य दोनों के लिए अनेक धार्मिक कर्तव्य निर्धारित किए हैं । "चाणक्य सूत्राणि" और "अर्थशास्त्र" दोनों में इस सम्बन्ध में स्पष्ट विचार व्यक्त किए गए हैं । जैसे राजा को चाहिए कि देवालय, ऋषि-आश्रम, वेदपाठी ब्राह्मणों के संस्थान आदि का स्वयं विधि पूर्वक निरीक्षण करे । राजा को चाहिए कि पुरोहित एवं आचार्य के साथ यज्ञशाला में उपस्थित होकर उन विद्वानों और तपस्वियों के कार्यों को खड़े हुए ही अभिवादन पूर्वक देखे ।[2] उद्योग, यज्ञ, अनुशासन करना, दान देना, शत्रु और मित्रों से गुण-दोषों के अनुसार व्यवहार करना, अभिषेक करना, ये सब राजा के नैमित्तिक कर्तव्य हैं ।[3] चाणक्य ने राज्य द्वारा निर्मित दुर्गों में देवी-देवताओं की स्थापना का विधान किया है —
दुर्गा, विष्णु, जयन्त, इन्द्र, शिव, वरुण, अश्विनी कुमार, लक्ष्मी और मदिरा इन देवताओं की स्थापना नगर के बीच में करनी चाहिए । कोष्ठागार आदि में भी कुल देवता या नगरदेवता की स्थापना करनी चाहिए ।

---

1. चतुर्वर्णाश्रमों . . . .वेश्मसु/कौ0अ0 1/3/2
2. अग्न्यगारगतः कार्यं पश्येद्वैद्यतपस्विनाम् /
पुरोहिताचार्यसखः प्रत्युत्थायाभिवाद्य च/कौ0अ0 14/18/3
3. राज्ञो हि प्रत्युत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम् /
दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितत्वाभिषेचनम्/कौ0अ0 14/18/1

प्रत्येक दिशा के मुख्य द्वार पर उसके अधिष्ठाता देवता की स्थापना की जाए। उत्तर का देवता ब्रम्हा, पूर्व का इन्द्र, दक्षिण का यम और पश्चिम का सेनापति कुमार। होता है। नगर की परिखा के बाहर दो सौ गज की दूरी पर केत्य, पुण्यस्थान, उपवन और सेतुबन्ध आदि स्थानों की रचना तथा यथास्थान दिग्देवताओं की भी स्थापना की जाए।

चाणक्य ने "अर्थशास्त्र" के अठत्तरवें प्रकरण के तीसरे अध्याय में आग, पानी, बीमारी, दुर्भिक्ष, लूटो, व्याघ्रों, सर्पों, राक्षसों आदि से प्रजा की रक्षा के लिए धार्मिक कर्मकाण्डों का विधान बताया है। वह कहते है कि राजा को चाहिए कि इस प्रकार के भयों के उपस्थित होने पर सब तरह से राजा प्रजा की रक्षा अपनी संतान की तरह करें। इसलिए राजा ऐसी विपदाओं का प्रतिकार करने वाले अथर्ववेद के ज्ञातार्थिको सिद्धों और तपस्वियों को अपने देश में सम्मानपूर्वक रखे। [2]

चाणक्य ने राज्य का यह भी कर्तव्य माना है कि जो लोग शास्त्र या लोक-धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करें उनको राज्य दण्डित करें। ऐसी दण्ड व्यवस्थाओं में से कुछ इस प्रकार है।

"सन्यासियों के बीच होने वाले मिथ्या आचार-विचारों को राजा दण्ड द्वारा दूर करें, क्योंकि अधर्म से दबाया और उपेक्षा किया हुआ धर्म शासन करने वाले राजा को नष्ट कर देता है।"[3] यदि कोई देवालयों की निन्दा करें तो उसके लिए भी उत्तम साहस दण्ड देने का विधान था।[4] तीर्थस्थानों, तपोवनों और मंदिरों के पेड़ काटने पर लोगों को दंडित करने की व्यवस्था की।[5]

---

1. अपराजित.....दिग्देवता: /कौ0अ0 20/4/1
2. माया.....कारिण: / कौ0अ0 78/3/2
3. प्रव्रज्याहु वृथाचाराद् राजा दण्डेन वारयेत्।
4. धर्मो ह्यधर्मोपहत: शास्तारं हन्त्युपेक्षित: / कौ0अ0 73/16/2
4. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 75/18/1
5. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् 76/19/1

धर्माचार्यों और दार्शनिकों के लिए पाप-पुण्य, सत्-असत् तथा सत्य-मिथ्या के प्रश्न भी सदा विचारणीय बने रहे हैं। यों जब आचार्य आत्मा और ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं तो ब्रह्म परमसत्य है, आत्मा उसी का अंश है। लेकिन यह सत्य ब्रह्म-ज्ञानियों का है। आचार्य के अनुसार पाप-पुण्य, सत्-असत् ये लौकिक दृष्टि से सापेक्ष शब्द हैं। सत्य, दया, अहिंसा, दान, परोपकार, आदि पुण्य और सत्कार्यों के अन्तर्गत आते हैं। लेकिन चाणक्य के अनुसार दुष्ट और शत्रु व्यक्ति के लिए कठोर-दण्ड ही सत्याचरण है, धार्मिक कार्य है। यदि कुकर्मी और शत्रु को कठोर दण्ड नहीं किया जाता है, तो यह अधर्म होगा। इसी प्रकार जितने भी सद्गुण हैं। उनके बारे में चाणक्य का यही मत है। वह कहते हैं दान सुपात्र को देना चाहिए, कुपात्र को नहीं। पुत्रकलंकी हो जाए तो उसे बहिष्कृत कर देना चाहिए। वे बलात्कार आदि के कुकर्मों के सम्बन्ध में वह प्राणदण्ड की भी व्यवस्था करते हैं। शत्रु के दमन के लिए प्रत्येक छल-कपट को धर्म-निहित कार्य मानते हैं। इस में, आचार्य चाणक्य लौकिक और पारलौकिक सन्दर्भ में नैतिक मूल्यों के आधारों को परिवर्तित कर देते हैं।

प्रत्येक धर्म में उसके पालन करने वालों के लिए आचार संहिताओं का निर्माण किया जाता है, इन्हें शास्त्र कहा जाता है हिन्दू-धर्म में अगणित शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। यद्यपि आचार्य चाणक्य वेदों और विद्याओं को सर्वोपरि महत्व प्रदान करते हैं। लेकिन उनका कहना है कि जिसे शास्त्र का ज्ञान न हो या जिसका विवेच्य विषय शास्त्र में अवर्णित हो वह शिष्टाचार को माने।[1] शास्त्र का महत्व शिष्टाचार से अधिक नहीं है।[2] चाणक्य के

---

1. शास्त्राग्रे शिष्टाचार मनुगच्छेत् /चा०सू० 570
2. नाचरिताच्छास्त्रं गरीयः/चा०सू०571।

इन विचारों से धर्म के सम्बन्ध में उनके उदार और प्रगतिशील चिन्तन का परिचय मिलता है । वह शास्त्र को पूर्ण सम्मान देते हुए भी व्यावहारिकता को अधिक महत्व देते हैं । हम सब जानते हैं कि शास्त्रों का निर्माण किसी एक देश और काल में होता है । वे उस समय के लिए पूर्ण उपयुक्त और अनुकूल हो सकते हैं, लेकिन जब भविष्य में परिस्थितियों में परिवर्तन होता है, तो उनमें अनेक बातें असम्भव और अव्यावहारिक हो जाती हैं । इससे धर्म में जड़ता उत्पन्न हो जाती है । और अनेक विसंगतियाँ जन्म लेने लगती हैं । अतः आचार्य चाणक्य शास्त्र की तुलना में व्यावहारिकता को वरीयता प्रदान करते हैं ।

धर्म में अंध विश्वास का बड़ा प्रचलन है । प्रायः धर्माचार्य तर्क सुनने को सहमत नहीं होते हैं । आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि अंधविश्वास नहीं करना चाहिए । वह धर्मशास्त्र पढ़ने से पहले आन्वीक्षकी के अध्ययन का उपदेश देते हैं, अर्थात् व्यक्ति तर्क-बुद्धि का विकास कर ले, तब धर्म का अनुशीलन करे ।

इसी प्रकार आचार्य चाणक्य भाग्य और कर्म में कर्म को प्रथम स्थान देते हैं । पुरुषार्थ की महत्ता के सम्बन्ध में वह कहते हैं, " जैसे मछली पकड़ने वाला अपने प्राण संकट में डालकर मछली पाता है , वैसे ही पुरुषार्थी मानव उठे, संकट में कूदे, सक्षमता रूपी देव को विघ्नों से बचा-बचाकर सुरक्षित करता चले और अपना कार्य सिद्ध कर ले ।"[1]

इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आचार्य चाणक्य के धर्म में मनुष्य और मनुष्यता का सर्वोपरि स्थान है । यदि कोई धर्म मनुष्यता की रक्षा नहीं कर सकता है तो वह अधर्म है, और इस विचार मात्र से आचार्य चाणक्य विश्व के महान् मानवतावादी दार्शनिक रूप में सम्मान पाने के अधिकारी हैं ।

---

1. मत्स्यार्थीव जलप्रपुज्यार्थं पुरुषीयात् /चा०सू० 186

५. धर्म और समाज

हमने आचार्य चाणक्य के धर्म - विवेचन के विविध आयामों का संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयास किया है । इससे हमें उनके सामाजिक दर्शन की परिकल्पना की एक रूपरेखा स्पष्ट होती है । चाणक्य का धर्म समाज, व्यक्ति और राष्ट्र के हितों का समन्वय करता है । उनके अनुसार धर्म जितना व्यक्ति के विकास और परिष्कार के लिए आवश्यक है, उतना ही समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए भी अनिवार्य है । व्यक्ति समाज और राष्ट्र की एक अपरिहार्य इकाई है । यदि व्यक्ति धार्मिक, नैतिक, आचार-परायण और कर्तव्यनिष्ठ नहीं होंगे, तो राष्ट्र और समाज की संस्थाएँ गतिशील नहीं हो सकेंगी, वे अपने निर्धारित उत्तरदायित्वों को अक्षम व्यक्तियों के माध्यम से सम्पन्न नहीं कर सकेंगी, इसीलिए चाणक्य के धर्मानुशीलन में वैयक्तिक धर्म और सामाजिक धर्म की सीमाएँ क्षीण हो जाती है । उनका विश्वास है कि वर्णाश्रम और उपयुक्त राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत ही व्यक्ति समुचित रूप से अपनी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्यक् रूप से कर सकेगा यदि वर्णाश्रम और राज्य नहीं है, तो ऐसी व्यवस्था एक अराजकता की स्थिति की द्योतक है जिसमें छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाएगी और कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्यों या लक्ष्यों को समुचित रूप से नहीं प्राप्त कर सकेगा । पश्चिमी समाज-दर्शन आज भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि धर्म अणु-युग अर्थात् विज्ञान-युग में भी जनमानस को भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से प्रभावित करता रहता है । धर्म एक ऐसी शक्ति है जिसका युग-युगों में सुनियोजित विरोध हुआ तथा नास्तिक दर्शनों ने इसको समूल नष्ट करने का प्रयास किया । लेकिन आज के समाज वैज्ञानिकों का मत है कि धर्म इतना लचीला और परिवर्तनशील रहा कि यह इन विरोधों का सामना करते हुए भी अपने अस्तित्व की रक्षा में सफल हुआ । आज भी ऑगस्ट काम्टे, इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर, अल्बर्ट श्विट्जर, पिट्रिम सोरोकिन,

कुमार स्वामी, और सर्वोपरि महात्मा गांधी [1] / इस तत्व को स्वीकार करते है कि धर्म- समाज को अनुशासित और सुपथगामी बनाने के लिए अन्यतम और अनुपम साधन है । आचार्य चाणक्य दो सहस्त्र वर्ष पूर्व इस तथ्य से पूर्ण अवगत थे, इसलिए उन्होंने धर्म और समाज के सम्बन्ध को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया।

आचार्य चाणक्य का धर्म कल्पना प्रधान नहीं है, अपितु यथार्थ की सुदृढ़ आधारशिला पर आश्रित है । वह स्वीकार करते है कि समाज में सामान्य मनुष्य की मनोवृत्तियाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह की ओर विशेष आकर्षित होती है । ये प्रवृत्तियाँ केवल व्यक्ति को क्षति नहीं पहुंचाती है, बल्कि समाज और राष्ट्र को निर्धारित करती है । इसीलिए धर्म - व्यवस्था में व्यक्ति को अधिक स्वतंत्रता नहीं प्रदान की गई है । आधुनिक राज्य, विशेष रूप में प्रजातंत्र में व्यक्ति के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करने की नीति का अनुसरण किया जाता है । इसमें परस्पर विरोधी धर्म - सम्प्रदाय क्रियारत रहते है । एक व्यर्थ की अस्तित्व की कल्पना की जाती है । सहस्त्रों वर्ष का इतिहास साक्षी है कि परस्पर विरोधी धार्मिक विचार धाराओं में जघन्य संघर्ष हुए । इस अहस्तक्षेप की नीति के कारण भारत और अन्य देशों में साम्प्रदायिक संघर्ष होते है जिनसे जन - धन की हानि होती है तथा समाज की शान्ति - व्यवस्था क्षतविक्षत होती है । आचार्य चाणक्य हमें अधिक दूरदर्शी और व्यावहारिक प्रतीत होते है, जब वह एक सुचिन्तित धर्म - व्यवस्था को राज्य द्वारा प्रवर्तित करने का निर्देश देते है । यद्यपि वह सर्वभूत हित के पक्षपाती है । दया, अहिंसा, सत्य, परोपकार, सदाचार आदि के सामाजिक महत्व को पूर्ण रूप से स्वीकार करते है । लेकिन यदि ये मूल्य समाज और राष्ट्र के

---

1. आधुनिक युग में धर्म दर्शन, धर्म का समाज शास्त्र, धर्म का मनोविज्ञान धर्म का नृत्वशास्त्र आदि विशेषीकृत शास्त्र विकसित हो गए है । जिनमें धर्म और समाज के संबंध का विशेष अध्ययन किया जाता है ।

अस्तित्व की सुरक्षा में बाधक हो, तो वह दण्ड, हिंसा और कठोरता आदि के अनुसरण में किंचित संकोच नहीं करते ।

समाज-विज्ञानों में प्रायः यह दिखाया जाता है कि व्यक्ति समाज के लिए है या समाज व्यक्ति के लिए इसी प्रकार एक जिज्ञासा यहाँ भी होती है कि चाणक्य के अनुसार धर्म समाज के लिए या समाज धर्म के लिए । सामान्य रूप से धर्म का लक्ष्य समाज को संगठित और व्यवस्थित करना है । इस दृष्टि से धर्म समाज के लिए है, किन्तु यदि समाज धर्म की रक्षा नहीं करेगा, इसको परिष्कृत नहीं रखेगा, तो वह उस समाज के लिए उपयोगी नहीं रह जायगा । इस प्रकार समाज और धर्म अन्योन्याश्रित है । धर्म समाज की रक्षा करता है और समाज धर्म को विकसित करने में अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करता है । आचार्य चाणक्य इसी तथ्य को स्वीकार करते है । प्राचीन ऋषियों ने भी कहा है कि जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है ।

आचार्य चाणक्य के वैयक्तिक धर्म में जीवन की अन्तिम अवस्था में अर्थात वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में मोक्ष प्राप्त करना लक्ष्य है । वान प्रस्थी और सन्यासियों का यह भी धर्म होता है कि वे समाज और नैतिक मूल्यों की रक्षा करें, ग्रहस्थारियों और गृहस्थों का मार्ग-दर्शन करें । चाणक्य द्वारा प्रतिपादित समस्त नैतिक मूल्य सामाजिक सम्बन्धों और व्यवस्था में उदात्त तत्वों का समावेश करते है तथा जीवन को और सुखदायी बनाते है । वर्ण व्यवस्था आदि के निधान से प्रत्यक्ष रूप से समाज में एक सहज श्रम - व्यवस्था उत्पन्न होती है ।, जिससे समाज के भौतिक कार्यों के सम्पादन में सुगमता आती है । समाज का कार्य सुचारू रूप से चलता है । ।इसका विस्तृत विवेचन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके है ।। इसी प्रकार चाणक्य की संकल्पना में राज्य धर्म का जो विवेचन है,अपितु सम्पूर्ण समाज की प्रगति का एक विधान है । संक्षेप में आचार्य चाणक्य की धर्म व्यवस्था समाज - दर्शन के सुनिश्चित, सुदृढ़ और समुन्नत सिद्धान्तों पर आधारित है ।

अध्याय - 9

"चाणक्य सूत्राणि" के अन्य दर्शन

शास्त्र का अर्थ सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध ज्ञान है । आचार्य चाणक्य अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् थे । उन्होंने व्यवस्थित रूप से विभिन्न विद्याओं का अध्ययन किया था और तक्षशिला विश्वविद्यालय के आचार्य के रूप में विविध विद्याओं का अध्यापन कार्य भी किया था । अतः सहज रूप में उनके किसी विषय के लेखन में अनेक विद्याओं के विचारों का समावेश हो जाता था । उन्होंने स्वयं भी अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ही यह निर्देश दिया है कि राजा को आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का अध्ययन करना चाहिए । इन चार विद्याओं में लगभग सोलह विद्या उपशाखा के रूप में सम्मिलित हो जाते हैं । आचार्य के "चाणक्य सूत्राणि" और "अर्थशास्त्र" ग्रन्थों के अवलोकन मात्र से यह बोध हो जाता है कि उनका अनेक विद्याओं का ज्ञान बहुमुखी, सूक्ष्म, तलस्पर्शी और व्यावहारिक था । देश-विदेश के अनेक मूर्धन्य विद्वान् उनके ज्ञान-क्षेत्र की गहनता और व्यापकता से आश्चर्य चकित हैं ।

हमने विगत अध्यायों में चाणक्य के सामाजिक दर्शन के मुख्य पक्षों व्यक्तित्व, परिवार, विवाह, सामाजिक संरचना, धर्म आदि पर विचार कर लिया है । लेकिन उनके ग्रन्थों के अनुशीलन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वह कुछ अन्य पक्षों पर भी यत्र-तत्र विचार व्यक्त करते हैं । उनके महान बौद्धिक व्यक्तित्व का आकलन करने के लिए अपरिहार्य है कि इन प्रकीर्ण विचारों पर भी दृष्टिपात कर लिया जाए ।

1- चाणक्य का आचार-दर्शन

पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान में अध्ययन की सुविधाओं के लिए ज्ञान का

अनेक विद्याओं के रूप में विभाजन किया गया है, तथा इन विद्याओं की सुनिश्चित सीमा-रेखाएं बनाई गई हैं । इस प्रकार के विभाजन में एक विद्या की विद्या-वस्तु दूसरे विद्या के क्षेत्र में अवश्य अतिक्रमण करती है अथवा उस विद्या से स्वयं आक्रान्त होती है । पश्चिम में दर्शन के अनेक उप-विभाग किए गए हैं । जिनके तत्व-दर्शन, ज्ञानमीमांसा, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि अनेक नाम-करण किए गए हैं । नीतिशास्त्र भी दर्शन की एक शाखा है । इसे अंग्रेजी में "इथिक्स" कहते हैं । इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है, " नीति-शास्त्र व्यवहार की अच्छाई तथा बुराई का विज्ञान है । यह नीति का विज्ञान है । व्यवहार ऐच्छिक क्रिया को कहते हैं । इसमें संकल्प सन्निहित रहता है । इसमें योजना का तत्व वर्तमान होता है । व्यवहार चरित्र का प्रकट रूप है । चरित्र संकल्प करने की स्थायी आदत है । संकल्प आत्मा की क्रिया है । इस प्रकार नीति-शास्त्र अच्छे या बुरे व्यवहार में अभिव्यक्त मानव-चरित्र का विज्ञान है । किन्तु अच्छाई और बुराई उस परमहित की ओर संकेत करते हैं जो मानव-जीवन का आदर्श है । अतः नीति-शास्त्र उच्चतम कल्याण का विज्ञान है ।"[1]

---

1. डा०जे०एन०सिन्हा, नीति-शास्त्र,पृ०।

भारतवर्ष में इस विषय पर विपुल साहित्य की रचना हुई है । वेद, उपनिषद्, स्मृतियां, महाकाव्यों के अतिरिक्त शुक्र-नीति, चाणक्य-नीति, भर्तृहरि-नीति, नारद-नीति, कणिक-नीति, विदुर-नीति आदि ग्रन्थों में इन विषयों का विस्तृत विवेचन है । नीति-साहित्य की विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि प्रसिद्ध दर्शन शास्त्री डा०बी०एल०आत्रेय ने भारतीय नीतियों के इतिहास पर एक हजार पृष्ठोंका ग्रन्थ लिखा है । आचार्य कुल चाणक्य इस महान् परम्परा के एक महत्वपूर्ण अंग हैं । उन्होंने "चाणक्यसूत्राणि", "कौटिलीय अर्थशास्त्र" तथा अन्य ग्रन्थों में नीति-शास्त्र विषयक बहुमूल्य विचार प्रदान किए हैं ।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान की यह विशेषता है कि इसमें पश्चिम की तरह ज्ञान की सीमा रेखाएं बहुत कठोर नहीं बनाई गई हैं फिर यहाँ का अर्थशास्त्र इतना व्यापक और विशद है कि इसमें लगभग ज्ञान के समस्त विषयों का समावेश हो जाता है । यही कारण है कि चाणक्य के अर्थशास्त्र और "चाणक्य सूत्राणि" में नीति के लगभग समस्त पक्षों का विवेचन हुआ है । इनमें से अधिकांश विषयों का विश्लेषण पिछले अध्यायों में व्यक्तित्व-दर्शन, परिवार -दर्शन, सामाजिक संरचना-दर्शन और धर्म-दर्शन में किया जा चुका है । उदाहरण के लिए धर्म का महत्व पुरुषार्थ, व्यसनों का त्याग, सदाचार, संयम, सत्य की महत्ता, विनय, वाणी का सदुपयोग और दुरुपयोग , शिष्टाचार, दान-परोपकार, सद्-असद् आदि शताधिक विषयों परचाणक्य के विचार उपलब्ध होते हैं ।

भारत और पश्चिम में नीति शास्त्रियों के दृष्टिकोणों के आधार पर नीतिशास्त्र के अन्तर्गत अनेक वादों की संकल्पना की गई है । जैसे, सुखवाद, उपयोगितावाद (बेन्थम तथा मिल), बौद्धिक उपयोगिता वाद (सिजविक), आदर्श उपयोगितावाद(रेशडेल तथा मूर), विकासात्मक सुख-वाद (स्पेन्सर, हेक्ली, टीपेन तथा अलेक्जेण्डर), अपरोक्ष-ज्ञानवाद(बटलर), तर्कवाद (बडवर्थ, क्लार्क तथा वुलास्टन), बुद्धिपरतावाद (काण्ट),

आत्म-पूर्णतावाद(प्लेटो, अरस्तू, हेगेल, ग्रीन तथा ब्रैडले), मूल्य-मानक आदि की संकल्पना है ।"

भारतीय नीति शास्त्र में विशेष रूप से पाप-पुण्य धर्म-अधर्म, कर्म और पुनर्जन्म, सुख-दुःख, दैवी आसुरी वृत्तियां, यम, नियम, आदि मानव-व्यवहार क्षेत्र के लगभग समस्त पक्षों का प्रतिपादन किया गया है । पश्चिमी दर्शन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिन पर भारतीय मनीषियों ने पहले से विचार न किया हो । चाणक्य ने भी लगभग मानव-व्यवहार के समस्त आयामों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है । किन्तु उन्होंने पश्चिमीवाद की शैली में किसी घेरे में अपने को बंदी नहीं बनाया है । उनका नीतिशास्त्र सम्बन्धी चिन्तन उन्मुक्त है । यदि उनके चिन्तन को किसी वाद से ही सम्बोधित करना हो तो ये कहा जा सकता है कि वह "सुनियोजित" जीवन- दर्शन के पक्ष-पोषक हैं । उनके सम्पूर्ण चिन्तन के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि वह वैयक्तिक से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक व्यक्ति के जीवन को अनुशासित और योजनाबद्ध रूप में देखना चाहते हैं । इस सन्दर्भ में वर्ण और आश्रम-व्यवस्था में निर्धारित किए गए नियमों को तो महत्व देते ही हैं । इसके अतिरिक्त वह राज्य से यह आशा करते हैं कि देश का शासक धर्म-अधर्म , कर्तव्य अकर्तव्य, सदाचरण दुराचरण आदि के सन्दर्भ में प्रजा को अपने साधनों द्वारा निर्देशित करने की व्यवस्था करें । उनका मत है कि दण्ड ही धर्माचरण और सदाचरण को प्रवर्तित करने में सक्षम होता है । इस दण्ड से वे किसी भी व्यक्ति को मुक्त नहीं रखना चाहते । यहाँ तक कि ब्राह्मण और सन्यासी को मर्यादाओं के उल्लंघन के लिए दण्डित करने की व्यवस्था करते हैं । व्यक्ति को स्वतंत्र इच्छा के लिए स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जाता है ।

आज की परिस्थितियों में व्यक्ति-स्वातंत्र्यके पक्षधर आचार्य चाणक्य के सिद्धान्त में कुछ अतिवादिता अनुभव कर सकते हैं, लेकिन तथ्य

और तथ्य यही है कि जिन समाजों में सदाचरण के सम्बन्ध में बन्धन ढीले किए गए, वहाँ नैतिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न होती है । यह कहना अनुचित न होगा कि पश्चिम के मूर्धन्य विचारक वहाँ के समाजों की आदर्श शून्यता और नैतिक ह्रास के प्रति बहुत चिन्तित हैं । ऐसे अवसर पर चाणक्य का निरोजित आचार-दर्शन का सिद्धान्त उचित प्रतीत होने लगता है ।

2. चाणक्य का शिक्षा -दर्शन

हम पिछले पृष्ठों में उल्लेख कर चुके हैं कि आचार्य चाणक्य मूलतः तक्षशिला विश्वविद्यालय के आचार्य थे । उन्हें मौर्य साम्राज्य के संस्थापक सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु होने का गौरव प्राप्त था । उनकी अभूतपूर्व मेधा और दिशा निर्देशन के परिणाम स्वरूप ही चन्द्रगुप्त भारत के विशाल साम्राज्य का एक सुयोग्य शासक हो सका था, उसने भारतीय राजनीति के अध्याय में एक अभिनव अध्याय जोड़ा था । चाणक्य के जीवन का विवेचन करते समय लोग उनको राजनीतिज्ञ और आचार्य दोनों मानते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि राजनीतिज्ञ बनने की उनकी कोई महत्वकांक्षा नहीं थी । जैसे ही चन्द्रगुप्त का साम्राज्य सुसंगठित हो गया, वे सम्राट के सलाहकार का पद त्याग कर वे तक्षशिला आकर शिक्षण का कार्य करने लगे थे । वास्तव में, जितने दिनों वे चन्द्रगुप्त के साथ रहे, उस अवधि में भी वह चन्द्रगुप्त को व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करते रहे । इतना ही नहीं, उन्होंने अर्थशास्त्र जैसा महान् ग्रन्थ लिखकर युग-युगों तक शासन और सत्ता के मार्गदर्शन का अभूतपूर्व कार्य करके एक अप्रतिम शिक्षक का भी कर्तव्य पूरा किया । वह केवल सम्राटों के ही शिक्षक नहीं रहे, बल्कि "चाणक्य सूत्राणि" जैसे ग्रन्थों में ऐसे महान् विचार दिए गए हैं जिनसे युग-युगों तक जनसाधारण भी शिक्षा ग्रहण करता आ रहा है और भविष्य में भी प्रेरणा ग्रहण करेगा ।

चाणक्य विद्या और ज्ञान के अनन्य उपासक थे । उनकी दृष्टि में संसार में सबसे बड़ा अभिशाप विद्याविहीन या मूर्ख होना था । वह कहते हैं कि मूर्ख व्यक्ति को बन्धु मिलना असम्भव है ।[1] जैसे लोहे को लोहे से काटा जाता है, उसी प्रकार मूर्ख हठी को हितोपदेश न देकर मूर्खों की भाषा में अर्थात् कठोर शारीरिक दण्ड से समझाना चाहिए ।[2] दुःसाहस ही मूर्खों का स्वभाव होता है ।[3] इससे प्रतीत होता है कि आचार्य को मूर्खता असह्य थी । इसमें कोई विवाद की बात नहीं है कि कुछ जन्मजात मूर्ख होते हैं, लेकिन अधिकांश समुचित शिक्षा के अभाव में मूर्ख होते हैं । इसीलिए आचार्य चाणक्य अपने ग्रन्थों में सर्वत्र विद्या की महत्ता, शिक्षा की आवश्यकता का सदा समर्थन करते हैं । वह विद्या को निर्धनों का धन कहते हैं ।[4] और ऐसा धन जिसका कोई हरण नहीं कर सकता है ।[5] विद्या मनुष्य यश प्रदान करती है तथा सामाजिक प्रतिष्ठा में सहायक होती है ।[6] उनका मत है कि धनी और उच्च पदों पर आसीन व्यक्ति धन नष्ट होने या पदच्युत होने पर समाज में विस्मृत कर दिए जाते हैं, लेकिन जो व्यक्ति विद्याबल से सम्पन्न होता है, वह अमर रहता है ।[7] ~~[illegible]~~ जैसी शिक्षा होगी वैसी बुद्धि होगी ।[8]

---

1. नाऽस्त्यधीमतः सखा/चा०नी०233
2. आयतेरायतं क्षेयम्/चा०नी० 232
3. मूर्खेषु साहसं नित्यं / चा०नी० 229
4. विद्या धनमधानाम् /चा०नी० 295
5. विद्या चोरैरपि न ग्राह्या/चा०नी० 296
6. विद्यया ख्यापिता ख्याति :/चा०नी० 297
7. यशः शरीरं न विनश्यति/चा०नी० 298
8. यथाश्रुतं तथा बुद्धिः/ चा ०नी० 459

आचार्य चाणक्य के अनुसार विद्या प्राप्त करने से मनोनिग्रह होता है ।[1] मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का परिष्कार होता है और कुकर्मों के करने पर अंकुश लगता है ।[2] चाणक्य कहते हैं कि जिस व्यक्ति को लौकिक अलौकिक वस्तुओं के रहस्य का परिचय विद्या के द्वारा होता है, इसलिए शास्त्रों के माध्यम से विद्या प्राप्त करना चाहिए ।[3] आचार्य केवल पुस्तकीय ज्ञान को ही ज्ञान नहीं मानते हैं । उनके अनुसार सत्संग से भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । वह कहते हैं, "सत्संग ही स्वर्ग निवास है" ।[4] जिस व्यक्ति को शास्त्र का ज्ञान न हो या जहाँ शास्त्र का निर्देश उपलब्ध न हो वहाँ शिष्टाचार मान्य है ।[5] शास्त्र का महत्व शिष्टाचार से अधिक नहीं है ।[6] शास्त्र के साथ लोकाचार को भी समझना आवश्यक है ।[7] जो केवल शास्त्र जानता है और लोक प्रचलित परम्पराओं से अपरिचित है, उसे भी चाणक्य मूर्ख कहते हैं ।[8] इस प्रकार से चाणक्य की शिक्षा में लोक-शिक्षा और शास्त्र-शिक्षा दोनों का समन्वय किया गया है ।

जहाँ तक शास्त्र-शिक्षा का प्रश्न है, आचार्य का मत पूर्ण स्पष्ट है । वह चार शास्त्रों को महत्व देते हैं :- आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति/ लेकिन वह राजा की शिक्षा के सम्बन्ध में नहीं किसी भी

---

1. इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम् /चा०सू०300
2. अशास्त्रकार्य वृत्तौ शास्त्रांकुशं निवारयति/चा०सू०301
3. शास्त्रप्रयोजनं तत्व दर्शनम् /चा०सू०544
4. सत्संगःस्वर्ग वासः/चा०सू०519
5. शास्त्राभावे शिष्टाचार मनुगच्छेत् /चा०सू०470
6. नाचरिताच्छास्त्रं गरीयः/चा०सू० 471
7. सर्वज्ञता लोकज्ञता/चा०सू०542
8. शास्त्रोऽप्यलोक्ज्ञो मूर्खतुल्यः/चा०सू०543

शिक्षार्थी के लिए उपयुक्त है । इन चार प्रकार के शास्त्रों में केवल बौद्धिक शिक्षा ही नहीं है, बल्कि व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित शिक्षाएँ भी हैं । जैसे वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन, व्यापार आते हैं । आन्वीक्षकी और त्रयी केवल बुद्धि विकास के लिए नहीं हैं अपितु उनका व्यावहारिक जीवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

शिक्षा के सम्बन्ध में चाणक्य के विचार वर्णाश्रम-व्यवस्था से सम्बद्ध हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में ब्राह्मण का कर्तव्य केवल अध्ययन-अध्यापन है । क्षत्रिय और वैश्य ज्ञानार्जन कर सकते हैं, लेकिन वे अध्यापन के द्वारा जीविका नहीं अर्जित कर सकते हैं । उनकी व्यवस्था में शूद्र शास्त्र-ज्ञान भले न प्राप्त करे, लेकिन वार्ता के अन्तर्गत आने वाली कलाओं को सीख सकता है ।

आचार्य चाणक्य की शिक्षा-पद्धति में प्रजा को शिक्षित करने का दायित्व राजा का है । राजा अपनी प्रजा को विभिन्न विद्याओं को प्रदान करने के लिए समुचित व्यवस्था करें । "चाणक्य सूत्राणि" और "अर्थशास्त्र" दोनों में अनेक स्थलों पर ब्राह्मणों और विद्वानों को सम्मानित करने के लिए निर्देश दिए है ।

चाणक्य की शिक्षा-व्यवस्था में गुरू का विशेष महत्त्व है, वह गुरू को देवतुल्य सम्मान देते हैं ।[1] वह कहते हैं कि गुरू का छिद्रान्वेषण नहीं करना चाहिए ।[2] गुरूदेव और ब्राह्मणों की भक्ति ही मनुष्य को सुशोभित करने वाला भूषण है ।[3] शिष्य को गुरू की इच्छानुसार चलना चाहिए ।[4]

---

1. गुरूं च दैवं च / चा०सू० - 375
2. न मीमांस्या गुरवः/चा०सू० 422
3. गुरूदेव ब्राह्मणेषु भक्तिर्भूषणम्/चा०सू०427
4. गुरवशानुवर्ती शिष्यः/चा०सू०337

गुरूओं में सर्वप्रथम स्थान मां को प्रदान करते हैं ।[1]

आचार्य चाणक्य केवल लौकिक विद्याओं को महत्व नहीं देते हैं, बल्कि वह इस परमज्ञान की महत्ता भी प्रतिपादित करते हैं जिसको प्राप्त करके व्यक्ति सुख दुःख से मुक्त हो जाए और स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त कर ले । सम्भवतः समस्त विद्याएं इस परम-ज्ञान या तत्व-दर्शन को प्राप्त करने की माध्यम मात्र हैं । वह अनेक स्थलों पर कहते हैं कि शरीर नाशवान है । संसार के समस्त सुख और भोग अस्थायी हैं । संसार के समस्त सम्बन्ध स्वार्थपूर्ण हैं, अतः व्यक्ति को सदैव इस विचार को ध्यान में रखते हुए परम तत्व-ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जिससे वह अखण्ड आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर सके । यह ज्ञान विद्वानों, महात्माओं सन्यासियों आदि के सत्संग से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु व्यक्ति को स्वयं तप और साधना करनी होगी । चाणक्य ने तप के महत्व का उल्लेख कई स्थानों पर किया है, तपस्वी को ज्ञानियों में श्रेष्ठ माना है । जितेन्द्रियता ही तपस्या का सार है ।[2] समाज के मार्गदर्शक जितेन्द्रिय लोग समस्त समाज के पूजनीय होते हैं ।[3] ऐसे लोग अपने संयत चरित्र से समाज को कल्याण तथा शान्ति का मार्ग दिखाने वाले होते हैं ।

संक्षेप में कहें, तो आचार्य चाणक्य का दर्शन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरूषार्थों पर केन्द्रित है । आचार्य के अनुसार विद्या मनुष्य को सुसंस्कृत और परिष्कृत बनाती है तथा उसके जीवन की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है । शिक्षा का लक्ष्य लोक-जीवन को समुन्नत

---

1. गुरूणां माता गरीयसी / चा०सू० 362
2. तपःसार इन्द्रियनिग्रहः/चा०सू०475
3. तपस्विनः पूजनीयाः/चा०सू० 411

करना है , लेकिन साथ-साथ इसका अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति को ऐसे ज्ञान से सम्पन्न भी बना देना है, जिससे वह अपने महान् कर्तव्य आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के सम्बन्ध में भी सफल हो सके ।

3. चाणक्य का अर्थ-दर्शन

विगत अध्यायों में विभिन्न प्रसंगों में चाणक्य के अर्थ सम्बन्धी विचारों का कुछ आकलन करने का प्रयास किया गया है । अर्थशास्त्र के लेखक होने के कारण चाणक्य को आर्थिक चिन्तक भी माना जाता है । उसके समग्र आर्थिक दर्शन संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयास किया गया है ।

चाणक्य के अनुसार अर्थ का आशय इस प्रकार है, "मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं । मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं । इस प्रकार भूमि को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है ।"[1] इस परिभाषा में कहा गया है कि व्यक्ति जिस प्रकार से अपने जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन साधनों का उपयोग करता है, वे अर्थ के अन्तर्गत आते हैं । चाणक्य के काल में और आज भी भौतिक इन साधनों की दृष्टि से भूमि का सबसे अधिक महत्व है । व्यक्ति की सबसे बड़ी आवश्यकता भूख को शान्त करना है । यह अन्न-फल , मांस, दूध, पानी आदि से ही सम्भव है, ये सब धरती से ही प्राप्त होते हैं । इनके अतिरिक्त दूसरी आवश्यकता निवास और वस्त्र की है, निवास स्थान के लिए लकड़ी, फूस, पत्थर , मिट्टी आदि समस्त साधन पृथ्वी से ही उपलब्ध होते हैं । वस्त्र के रूप में पेड़ों के पत्ते, रूई, खाल, ऊनी आदि सभी धरती द्वारा प्राप्त होने वाले पदार्थ हैं । महान भूगोलवेत्ता फ्रेडरिक रेटजेल पाश्चात्य विद्वान् ने ठीकहा है कि मनुष्य अन्तरिक्ष में कितनी ही उड़ाने भर ले, अन्त में पृथ्वी का ही आश्रय लेना पड़ेगा, यहीं जीवन की

1- मनुष्याणां - - - - - - - - शास्त्रमिति । कौ० अ० 180/1/1

आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी । भूमि के बिना सभ्यता तथा संस्कृति का विकास सम्भव नहीं है । आधुनिक युग में सभ्यता के सबसे बड़े वरदान बिजली, पानी, कोयला, तेल और अगणित प्रकार के खनिज पदार्थ हैं । ये सब भी पृथ्वी से ही प्राप्त होते हैं । चाणक्य पृथ्वी को अर्थ मानते हैं क्योंकि भूमि के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं । इसलिए पृथ्वी को श्रेष्ठ अर्थ माना है । वेदों में भी पृथ्वी की महिमा का गुणगान अनेक स्थलों पर है जैसे," जिस पृथ्वी के चढ़ाई, उतराई और समतल स्थान है । जो अनेक सामर्थ्यों से औषधियों को धारण करती है, वह पृथ्वी हमें सभी प्रकार प्राप्त हो । हमारी कामनाओं को सफल करें । समुद्र, नदियों और जल से सम्पन्न पृथ्वी, जिससे कृषि और अन्न होता है, जिससे यह प्राणवान संसार पुष्ट होता है, वह पृथ्वी हमें फल, रूप, रस, उपलब्ध होने वाले प्रदेश में प्रतिष्ठित करे ।"[1]

जब आचार्य चाणक्य जीविका निर्वाह के साधनों को अर्थ कहते हैं तो उसमें भी भूमि का भाव सन्निहित है । कोई व्यक्ति किसी कला से जैसे साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि से जीविका उपार्जित करता है तो प्रत्यक्ष रूप से वह भूमि से जुड़ा हुआ है क्योंकि उसकी कला से जीवन-यापन के जो साधन प्राप्त होते हैं, वे सब पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं । इसके अतिरिक्त जिन लोगों का मनोरंजन, कल्याण या सेवा करके धन प्राप्त करता है, वे भी पृथ्वी के ही होते हैं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चाणक्य जब भूमि को सबसे बड़ा या भूमि को ही अर्थ कहते हैं, तो शाश्वत और सर्वकालिक सत्य को व्यक्त करते हैं ।

चाणक्य की अर्थ की परिभाषा पर विचार करने के उपरान्त अनेक प्रश्न उठते हैं । जीवनधारक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त अर्थ का क्या महत्व है, अर्थ कितने प्रकार का होता है, अर्थ कैसे प्राप्त

---

1. अथर्ववेद, काण्ड 2, 12/1/1, 2, 3

किया जा सकता है , अर्थ का समाज में वितरण किस प्रकार हो जिससे समाज सुचारूरूप से संचालित होता रहे और व्यक्ति का समुचित रूप विकास होता रहे । आचार्य चाणक्य ने इन सब प्रश्नों पर विचार व्यक्त किए हैं ।

पिछले पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि आचार्य चाणक्य जीवन के तीन लक्ष्य मानते हैं । धर्म, अर्थ और काम की सम्यक उपलब्धि । इनमें वह अर्थ को पहला स्थान देते हैं । उनकी दृष्टि में अर्थ के अभाव में धर्म और काम की पूर्ति सम्भव नहीं । "धर्म, अनुष्ठान और कामनाओं की पूर्ति अर्थ द्वारा ही होती है ।"[1] इसीलिए आचार्य कहते हैं कि मनुष्य अपने को अमर मानकर जीवनपर्यन्त अर्जन करता रहे ।[2] "ऐश्वर्यवान व्यक्ति अपनी अर्थ शक्ति से सब लोगों से सम्मान पाता है ।[3] दरिद्र व्यक्ति जीते हुए भी मरे के समान होता है अर्थात उसका जीवन व्यर्थ है ।"[4]

अर्थ की यह महत्ता प्रत्येक काल में रही है और आज भी है । आधुनिक युग को भौतिकतावादी युग कहा जाता है । व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक अधिकांश प्रयास अर्थोपार्जन से सम्बन्धित हैं । लेकिन यहाँ चाणक्य और आधुनिक प्रचलित धारणाओं में अन्तर है । चाणक्य जब अर्थ की महत्ता प्रतिपादित करते हैं तो वह कहते हैं अर्थ का महत्व इन्द्रियों को तुष्ट करना मात्र नहीं है बल्कि धार्मिक कार्यों को सुचारू

---

1. अर्थमूलो धर्मकामौ / चा०सू० 91
2. अमरवदर्थमातमार्जयेत/चा०सू० 254
3. अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः/चा०सू० 255
4. दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवितं मरणं /चा०सू० 257

रूप से सम्पन्न करके आत्मा का उन्नयन करना है और परमसुख भी प्राप्त करना है जो अस्थायी और क्षणिक नहीं । यद्यपि आधुनिक विचारक समाजवादी और साम्यवादी अर्थ को सर्वोपरि महत्व देते हैं, किन्तु वे केवल भौतिक सुख-साधनों को प्राप्त करना ही लक्ष्य मानते हैं । चाणक्य अर्थ का उपयोग एक महत्लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक साधन के रूप में करते हैं । इस प्रकार वह जीवन को अधिक उदात्त, संस्कृत और परिष्कृत बनाने की योजना प्रस्तुत करते हैं ।

अर्थ महत्वपूर्ण है, लेकिन इसे कैसे प्राप्त किया जाए- इस सम्बन्ध में आचार्य का मत दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, 1- राजनैतिक साधनों द्वारा अर्थ प्राप्ति 2- सामाजिक साधनों द्वारा अर्थ प्राप्ति । राजनैतिक साधनों से अर्थ प्राप्ति का आशय राष्ट्रीय सम्पत्ति है । उनका सम्पूर्ण अर्थशास्त्र उन विविध उपायों का विस्तृत वर्णन करता है जिससे राष्ट्र की सम्पत्ति में अभिवृद्धि हो सकती है । इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट दर्शन है कि राजा या राज्य अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति कराए, उनकी रक्षा करें, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करे और संवर्द्धित वस्तुओं को उचित कार्यों में लगाने का निर्देश करे ।[1] चाणक्य के इन वाक्यों में एक शाश्वत अर्थ-दर्शन का उद्घाटन हुआ है । यह प्रत्येक देश समाज और व्यक्ति के लिए अनुकरणीय है ।

---

1. अलब्धं . . . . . /को0अ0 1/3/3

राज्य के लिए आचार्य ने आय के अनेक स्रोत बताए है, जिसमें कृषि, व्यापार, कर, उद्योग आदि प्रमुख है । इसके अतिरिक्त दूसरे राज्यों पर विजय प्राप्त करके राष्ट्र के कोष में वृद्धि की जा सकती है । केवल उत्पादन वृद्धि से ही समृद्धि नहीं होती है ।, अपितु आय से अधिक व्यय नहीं होना चाहिए यह निर्देश भी आचार्य चाणक्य देते है ।

सामाजिक दृष्टि से अर्थ व्यवस्था के संबंध में यह वर्ण विभाजन के सिद्धान्त को मानते है अर्थात ब्राहम्ण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने वर्णों के अनुसार कर्म करके अपनी जीविका अर्जित करें । प्रत्यक्ष रूप से यह सामाजिक व्यवस्था राज्य के ही अधीन रखी गई है । राजा का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक वर्ण के लोग समुचित कर्तव्य का पालन कर रहे है । या नहीं, यह देखें । आचार्य का यह सिद्धान्त आधुनिक संदर्भ में कुछ अव्यावहारिक प्रतीत हो सकता है, लेकिन इसके औचित्य और सार्थकता के संबंध में अन्तिम अध्याय में विचार करेंगे । जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान वेनार्ड ब्लोश्यर ने चाणक्य के आर्थिक चिंतन के सम्बन्ध में बहुत महत्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित किए है उनका मत है कि कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में कल्याणकारी राज्य और नियोजित अर्थव्यवस्था की अवधारणा भारत की तुलना में बहुत बाद में आई । जिस नियोजित अर्थ व्यवस्था की चर्चा आज पश्चिम में बहुत है, उसकी आचार्य चाणक्य बहुत सफलता पूर्वक हजारों वर्ष पूर्व प्रस्तुत कर चुके थे । ब्लोश्यर कहते है कि यह आर्थिक सिद्धान्त केवल बौद्धिक नहीं थे बल्कि इनको व्यवहार में भी रूपांतरित किया गया था ।[1]

चाणक्य की अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन और वितरण में राज्य का नियन्त्रण है । इसमें राज्य और समाज के व्यक्ति संयुक्त रूप से मिलकर आर्थिक समृद्धि में योगदान करते है । राज्य उन समस्त सुविधाओं को प्राप्त करने में सहयोग करता है जिससे उत्पादन में वृद्धि हो तथा उन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करता है जो उत्पादन की वृद्धि में अवरोध उत्पन्न करती है ।

---

1. बी० के० सरकार, पॉलिटिव बैक ग्राउन्ड आफ हिन्दू सोसियोलाजी पृ० 329-33

अर्थ -उत्पादन का एक मात्र लक्ष्य जनता को सुखी बनाना और राष्ट्र को शक्त करना है । यदि अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन और वितरण की सुचित नहीं होगी, तो जनता सुखी नहीं रह सकती है । चाणक्य ने इस सम्बन्ध में भी विशेष ध्यान दिया है तथा उन समस्त बाधाओं को दूर करने की व्यवस्था की है । ई आश्चर्य है कि इस सम्बन्ध में आचार्य चाणक्य की दृष्टि से छोटी बड़ी कोई समस्या भी उपेक्षित नहीं हो पाई । जैसे राज्य किसानों को कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए सहायता प्रदान करें, लेकिन किसान यदि इस सुविधा का सही उपयोग न करे, तो उसे दण्ड दिया जाए। किसान पारस्परिक सहयोग और राज्य की सहायता से मार्ग , जलाशय बांध आदि का निर्माण करे । क्षेत्र का कोई व्यक्ति यदि उसमें सहयोग न करे, तो अपने स्थान पर दूसरे को भेजे या मजदूरी का पैसा दे । यदि ऐसा न करे तो उसे दण्डित किया जाए । शिल्पियों द्वारा वस्तुओं के निर्माण में किसी प्रकार की उपेक्षा न हो । माया और गुणवत्ता दोनों को नियन्त्रित करने की व्यवस्था थी । बाजार में सब वस्तुएं उपलब्ध रहे, भाव ठीक रहे । यदि मंदी या तेजी बढ़ने लगती थी, उसको नियंत्रित करने के नियम थे । घटतौली, जखीरेबाजी और मिलावट करने वाले व्यापारियों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी । आयात-निर्यात का सन्तुलन रखने के समुचित विधान थे । श्रमिकों के हित भी सुरक्षित थे । निश्चित मजदूरी न देने या कम देने या बेगार लेने पर व्यक्ति को दण्डित किया जाता था । धोबी ग्राहकों के कपड़ों पर ठीक से निशान लगाएं तथा कपड़े किसी को न देवे, न किराए पर दें । ऐसा न करने पर उन्हें दण्डित किया जाए । कितने दिन में धुले कपड़े वापस कर दिए जाएं इसके भी नियम थे । धुलाई कितनी दी जाए, यह कपड़े कैसे हैं इस पर निर्भर था । इसी प्रकार सुनार के सम्बन्ध में विस्तृत नियम थे जिससे वे ग्राहकों के साथ किसी प्रकार की धोखाधड़ी न कर सकें । जाली सिक्के रखने बनाने आदि पर मृत्यु दण्ड तक की व्यवस्था थी । यदि कोई वैद्य अपने प्रमाद से गलत चिकित्सा या गलत शल्य-क्रिया कर दे, तो उसे दण्डित करने की व्यवस्था थी । नट-नर्तक आदि

अधिक पुरस्कार स्वीकार न करें और अश्लील प्रदर्शन न करें । अग्नि, जल, बीमारी, दुर्भिक्ष, चूहे, व्याघ्र, सांप आदि जन और धन की हानि पहुंचाते हैं । उनसे बचनेका विवेचन भी चाणक्य ने किया है । इन सब अपराधों का पता लगाने के लिए गुप्तचर नियुक्त करने की भी व्यवस्था थी और अपराधियों को कठोर दण्ड देने के नियम थे । चोरों, डकैतों और सरकारी कर्मचारी आदि के दमन के भी कठोर नियम थे । कौटिलीय अर्थशास्त्र में ये सब नियम इतने विस्तृत रूप से दिए गए हैं कि इन नियमों पर ही एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है । अतः यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि चाणक्य का नियोजित अर्थ-व्यवस्था का चिन्तन कितना सूक्ष्म और व्यवस्थित था । जर्मन विद्वान् ग्लोडयर ने यदि चाणक्य की आर्थिक नियोजन ~~के यदि चाणक्य की आर्थिक नियोजन~~ के सम्बन्ध में प्रशंसा की है तो यह अतिशयोक्ति नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन का यह आशय नहीं है कि चाणक्य केवल अर्थ को ही जीवन में महत्व देते हैं । वह अनेक स्थलों पर स्पष्ट निर्देश देते हैं कि राज्य को आर्थिक दृष्टि से प्रबल रहना चाहिए और कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए । लेकिन व्यक्ति को अर्थ कीट बनने का परामर्श नहीं देते हैं । व्यक्ति त्रिवर्ग को साथ लेकर चले और जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष होना चाहिए । त्याग और तपस्यामय जीवन ही सर्वश्रेष्ठ माना है, ऐश्वर्य को पैशाचिकता की उपमा दी है । उनकी मान्यता है कि अधिक धन अनुचित उपायों से ही आता है, जो समाज के लिए कल्याणकारी नहीं । इस प्रकार वह अर्थ के महत्व को परिसीमित कर देते हैं । आचार्य चाणक्य के लिए अर्थ साधन है, साध्य नहीं ।

3. चाणक्य का सामाजिक विघटन सम्बन्धी चिन्तन

पश्चिमी समाजशास्त्र में समाज की उन प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए एक स्वतंत्र शास्त्र का संगठन हुआ है । जो प्रवृत्तियां समाज के अनुशासन को भंग करती हैं, राष्ट्र की प्रगति में बाधा पहुंचाती हैं । इनके नाम हैं - सामाजिक विघटन (सोशल डिसऑर्गनाइजेशन) सामाजिक व्याधिकी (सोशल पैथोलॉजी) अपराध शास्त्र (क्रिमिनोलॉजी) असमान्य मनोविज्ञान (एबनॉर्मल-साइकलॉजी) । सामाजिक विघटन नियमित व्यवस्था और कार्य करने की योजना के भंग होने के प्रक्रिया है । साथ ही साथ विभ्रम और कार्य करने की क्रिया के ठीक से न होने की वह अवस्था है जिसमें संघटित और संश्लिष्ट आचरण का अभाव भी सम्मिलित है ।[1] डी०एम०जेन्सनेकहा है, विघटन संघटन की ऐसी स्थिति में उत्पन्न होता है जब स्वाभाविक कार्य आकस्मिक रूप से भंग होते हैं तथा नियन्त्रण के सामान्य रूप से स्वीकृत मापदण्डों का पतन हो जाता है ।[2] ई० एम० लेमर्ट का विचार है, "विघटन एक अत्यन्त सामान्य शब्द है जिसका अर्थ है, समाज की संस्थाओं और समूहों के बीच असंतुलन तथा व्यापक संघर्ष ।"[3]

आचार्य चाणक्य ने सामाजिक संगठन और नियन्त्रण पर बहुत जोर दिया है । वर्ण -व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति और सामाजिक संस्थाओं का पूर्ण नियन्त्रण करने की व्यवस्था करते हैं । यह उनका मत है कि यह व्यवस्थाएं भंग होती हैं तो समाज में अराजकता उत्पन्न होती है और कोई कार्य सुचारू रूप

---

1. फेयरचाइल्ड, डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजिकल टर्म्स
2. डी०एम०जेन्सेन, एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशियोलॉजी एण्ड सोशल प्राब्लम्स, पृ० 191
3. ई०एम०लेमर्ट, सोशल पैथोलॉजी, पृ० 449

से नहीं चल पाता । राजा का कर्तव्य है कि दण्ड शक्ति के द्वारा समाज को अपने निर्धारित कर्तव्यों की ओर उन्मुख रखे । लेकिन मनुष्य स्वभाव अनेक नैसर्गिक प्रवृत्तियों काम, क्रोध, लोभ, मोह, के कारण स्थापित नियमों और व्यवस्थाओं को क्षति पहुँचाता है तथा मर्यादाएँ भंग करता है । अतः आचार्य ने मनुष्य की दुर्बलताओं को नियन्त्रित करने के लिए अनेक नियम बनाए है । उदाहरण के लिए, विभिन्न प्रकार के अपराधों जैसे कदाचार, बलात्कार, वेश्यावृत्ति, मद्यपता, पारिवारिक तनाव, आर्थिक अपराध, गुप्तचरी, विद्रोह आदि के सम्बन्ध में कठोर दण्डों की व्यवस्था की गई है । इनके सम्बन्ध में हम पिछले अध्यायों में विभिन्न प्रसंगों में वर्णन कर चुके है । यहाँ कुछ सूत्रों के उल्लेख मात्र से आचार्य चाणक्य के सामाजिक विघटन सम्बन्ध विचारों का परिचय प्राप्त होगा ।

आचार्य चाणक्य सामाजिक विघटन को नियन्त्रित करने के लिए धर्मशास्त्र, रीति-रिवाज, परिवार, आदि को महत्व अवश्य देते हैं, किन्तु सबसे अधिक सशक्त माध्यम दण्ड को मानते है । दण्ड के सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके है । चाणक्य का यह कथन ही उनके दण्ड दर्शन को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है-

"दण्डनीति ठीक रखने पर ही आत्मरक्षा हो सकती है।"[1]

4. चाणक्य के अन्य चिन्तन

समाज मनोविज्ञान, ग्रामोद्योग और नगरीकरण, मानवशास्त्र, सैन्यविज्ञान आदि ।

आचार्य चाणक्य मानव व्यवहार के सूक्ष्म ज्ञाता थे । उन्होंने व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहारों के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर विचार व्यक्त किए है । विशेष रूप से उन्होंने मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों, आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में नेचुरल इन्स्टिंक्ट, पर विशेष दृष्टिपात किया है । आधुनिक समाज मनोविज्ञान यह मानता है कि मूल प्यास, काम, क्रोध, लोभ, मोह की दृष्टि से मनुष्य और पशु में कोई विशेष

---

1. न दण्डादृते किञ्चिदपि कुर्वन्ति / चा0 सू0 82

दृष्टिपात किया है । आधुनिक समाज मनोविज्ञान यह मानता है कि भूख, प्यास, काम, क्रोध, लोभ, मोह की दृष्टि से मनुष्य और पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं है । मनुष्य ने इन नैसर्गिक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित और परिष्कृत करने की कला का विकास कर लिया है । इसीलिए वह प्राणि-जगत् में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है । पश्चिम के प्रसिद्ध समाज मनोवैज्ञानिक विलियम मैक्डूगल ने नैसर्गिक प्रवृत्तियों के विभिन्न पक्षों का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन किया है और वह उनके अनुसार मुख्य मूल्य या नैसर्गिक प्रवृत्तियां उनसे सम्बन्धित संवेग निम्नांकित हैं —

मूल प्रवृत्तियां	सम्बन्धित संवेग
पलायन	भय
युयुत्सा	क्रोध
निवृत्ति	घृणा
पुत्रकामना	वात्सल्य
शरणगति	करुण
कामप्रवृत्ति	कामुकता
कौतूहल	आश्चर्य
दैन्य	आत्महीनता
आत्म गौरव	आत्माभिमान
सामूहिकता	एकाकीपन
भोजन की खोज	भूख
संग्रह वृत्ति	अधिकार भावना
विधायकता	कृतिभाव
हास	आमोद [1]

मैक्डूगल ने जिन मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का वर्णन किया है उन सबके सम्बन्ध में चाणक्य ने अपने विचार व्यक्त किए हैं । समाज

---

1. विलियम मैक्डूगल, सोशल साइकोलॉजी

मनोवैज्ञानिकों और समाज शास्त्रियों की भाँति उनका मत है समाज व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का समुचित, नियन्त्रण, परिष्कार, उदात्तीकरण अवश्य होना चाहिए। यद्यपि इन संवेगों और प्रवृत्तियों के अनुशासित करने के लिए धर्म नैतिकता आदि का महत्व स्वीकार करते है। लेकिन वह दण्ड के भय को सर्वाधिक सशक्त माध्यम मानते है।

राज-दर्शन अध्याय में दण्ड का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। आधुनिक युग में नगर नियोजन (अर्बन प्लानिंग) ग्रामीण नियोजना। (रूरल प्लानिंग) को बड़ा महत्व दिया जाता है। आचार्य चाणक्य ने इस विषय पर भी बड़ा महत्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया है। "ग्राम जिनमें कि प्रत्येक में कम से कम सौ शूद्र अथवा कृषक परिवार तथा अधिक से अधिक ऐसे पाँच सौ परिवार हो स्थापित किए जाएँ। प्रत्येक की सीमा एक कोस से दो कोस की हो। इनकी रक्षार्थ अपनी अपनी स्थित्यनुरूप पारस्परिक रक्षा का प्रबन्ध हो। सीमा का निर्धारण एक नदी विशेष, पर्वत विशेष, वन विशेष, वास्त्वाकृति विरूद्ध विशेष, कन्दराएँ, पुल अथवा वृक्ष विशेष जैसे शाल्मली, शमी वृक्ष आदि से सम्पादित की जाएँ। इन ग्रामों की रक्षार्थ 800 ग्रामों के बीच स्थानीय दुर्ग, 200 के बीच द्रोण मुख दुर्ग तथा 10 ग्रामों के बीच में संग्रहण दुर्ग की स्थापना की जाएँ।"

"चाणक्य के इन आदेशों से तो ग्रामों की स्थापना करना कृत्रिम हो जाता है। ग्राम निवेश की इस कृत्रिमता के अंतर्मन में जो रहस्य है उस पर प्रथम ही संकेत हो जाता है। राजधानीय नगरों - राजधानियों को संकीर्ण होने से बचाने के लिए आबादी के कुछ अंशों को नए-नए गाँवों का निर्माण करके वहाँ भेजना अथवा विदेशियों को इस नव निर्मित ग्रामों में रहने के लिए प्रोत्साहित करना, ये ही प्रायः इन कृत्रिम ग्रामों की रचना का हेतु है।"।

मानव भूगोल या सामाजिक भूगोल के अध्ययन का मुख्यविषय होता है, प्राकृतिक साधनों का उपयोग मानव और सभ्यता के विकास में किस प्रकार होना चाहिए । आचार्य चाणक्य ने इस विषय पर भी गम्भीर चिन्तन किया है और उनके अर्थशास्त्र ग्रन्थ में, समस्त प्राकृतिक संसाधनों जैसे भूमि, जल, पशु, खनिज पदार्थ, आदि का समुचित उपयोग कैसे किया जाए उनका संरक्षण और विकास कैसे हो, इन सब विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है । चाणक्य के सम्पूर्ण चिन्तन का विश्लेषण - विवेचन एक पृथक् विषय है ।

समाज दर्शन से सम्बन्धित इन विषयों के अतिरिक्त जैसे खनिज-विद्या, युद्ध-विज्ञान, औषधियों-विज्ञान, तन्त्र-मन्त्र विद्या आदि अनेक विषय हैं । उनके ग्रन्थों से अनेक विषयों पर प्रकाश पड़ता है । इससे आचार्य चाणक्य की महान् मेधा, अद्भुत प्रतिभा, अगाध ज्ञान और पांडित्य के दर्शन होते हैं । यह उनका सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान पाठकों के मनोरंजन के लिए नहीं है, अपितु उनका चिन्तन मनुष्य की संघर्ष-क्षमता में अभिवृद्धि करता है, उसे नई युक्तियों से सम्पन्न करता है और एक नवीन आशा और उत्साह का संचार करता है ।

—

अध्याय -10

उपसंहार

इस शोध - प्रबंध में हमारी मुख्य प्राक्कल्पना यह थी कि चाणक्य विश्व-इतिहास के अप्रतिम विभूति हैं । उनका चिन्तन महान् है और विवेचन अनुकरणीय है । यद्यपि आचार्य चाणक्य ने "चाणक्य सूत्राणि" और "अर्थशास्त्र" में ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों के विचारों का उद्घाटन किया है । लेकिन शोधकर्त्री की यह स्थापना है कि चाणक्य का सम्पूर्ण चिन्तन समाज-सापेक्ष रहा है । उनके धर्मशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, नीति-शास्त्र आदि का मूल आधार वह मानवीय दृष्टि रही है जिसका लक्ष्य मनुष्य और समाज का बहुमुखी विकास व प्रगति करना है । समाज को एक संश्लिष्ट रूप प्रदान करना, राज्य को समाज-कल्याण का माध्यम बनाना और अन्त में व्यक्ति को महान् आदर्श और लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार की ओर उन्मुख करना है ।

भारतवर्ष में सम्पूर्ण चिन्तन धर्म के चारों ओर केन्द्रित रहा है । यहाँ की राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्पशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि विविध ज्ञान-विज्ञान धर्म से ही उद्भूत हुए हैं । अतः पश्चिम के विद्वानों और विद्वानों को प्रायः भ्रम हो जाता है कि भारत का चिन्तन पारलौकिक है, यहाँ के लोगों ने समाज के निर्माण की उपेक्षा की है । इसी कारण से यहाँ के समाज सम्बन्धी अनुचिन्तन को पश्चिमी विद्वानों के ग्रन्थों में उचित स्थान नहीं मिला । पश्चिमी विद्वानों की इस कुत्सित योजना का दुष्प्रभाव भारतीय विद्वानों पर भी पड़ा और यहाँ के शिक्षा के कर्णधारों ने भारत के महान् समाज दार्शनिक और समाजशास्त्रीय चिन्तन की उपेक्षा की । आज भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भारतीय सामाजिक दर्शन का औपचारिक रूप में ही पठन-पाठन होता है । अतः स्वतंत्र भारत में इस बात की परम आवश्यकता है कि प्राचीन

भारतीय समाजचिन्तन का सम्यक् अनुशीलन और विश्लेषण हो । इस परम्परा में आचार्य चाणक्य या विष्णुगुप्त महान् और अग्रतिम व्यक्तित्व हैं । इस प्रबन्ध का उद्देश्य उनकी विशिष्ट ज्ञान-राशि का संक्षिप्त वर्णन और विश्लेषण करना था ।

उक्त उद्देश्य की सम्पूर्ति के लिए हमने प्रथम अध्याय में यह विवेचन किया कि समाज-दर्शन और समाज-शास्त्र क्या हैं, उसके कौन-से अंग हैं, उसके क्या तत्व हैं । हमने यह स्पष्ट किया कि व्यक्ति, परिवार, विवाह, सामाजिक संरचना, धर्म, राजनीति आदि से समाज के विभिन्न पक्षों का निर्माण होता है । समाज-दर्शन इन विषयों का विवेचन करता है और यह मूल्यांकन करता है कि समाज की प्रगति और विकास के लिए उसकी संस्थाओं की उन्नति के लिए कौन से तत्व आवश्यक और उपयोगी होते हैं ।

इसी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर हमने वैदिक काल से लेकर चाणक्य-पूर्व-काल अर्थात् सूत्र-काल तक के सामाजिक चिन्तन की प्रमुख प्रवृत्तियों का विहंगावलोकन किया, और यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि प्रारम्भ से ही भारतीय सामाजिक चिन्तन एक महान् संश्लिष्टता उदात्तता और व्यवहारिकता की ओर उन्मुख होता रहा है । वैदिक समाज अत्यन्त सरल था, लेकिन क्रमशः समाज की जटिलताओं में अभिवृद्धि होती गई और समाज को संगठित बनाए रखने और सक्षम बनाए रखने के लिए अनेक नए विधि-विधान और नियमों उपनियमों का निर्माण हुआ । वर्ण-व्यवस्था, विवाह-व्यवस्था, परिवार, राज्य आदि समाज की विभिन्न संस्थाएं महाकाव्य युग में पहुंचने तक पर्याप्त विकसित और परिष्कृत हुईं । लेकिन कोई भी सामाजिक विधान और संस्था प्रत्येक काल के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त नहीं रहती । उसमें देशकाल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन अपेक्षित होते हैं । कभी-कभी पुरानी व्यवस्थाएं विधि-विधान भुंग या निष्क्रिय होकर निष्फल होने लगते हैं । ऐसी अवस्था में पुनर्गठन

की आवश्यकता और नए दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है ।

आचार्य चाणक्य के पूर्व काल में राष्ट्र और समाज की एक विघटित अवस्था थी । किसी केन्द्रीय सत्ता का शासन नहीं था । सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था । विदेशी समय-समय पर आक्रमण करके राष्ट्र के स्वाभिमान को आघात पहुंचा रहे थे । समाज में सारी व्यवस्थाएं शिथिल हो रही थीं । शास्त्रों

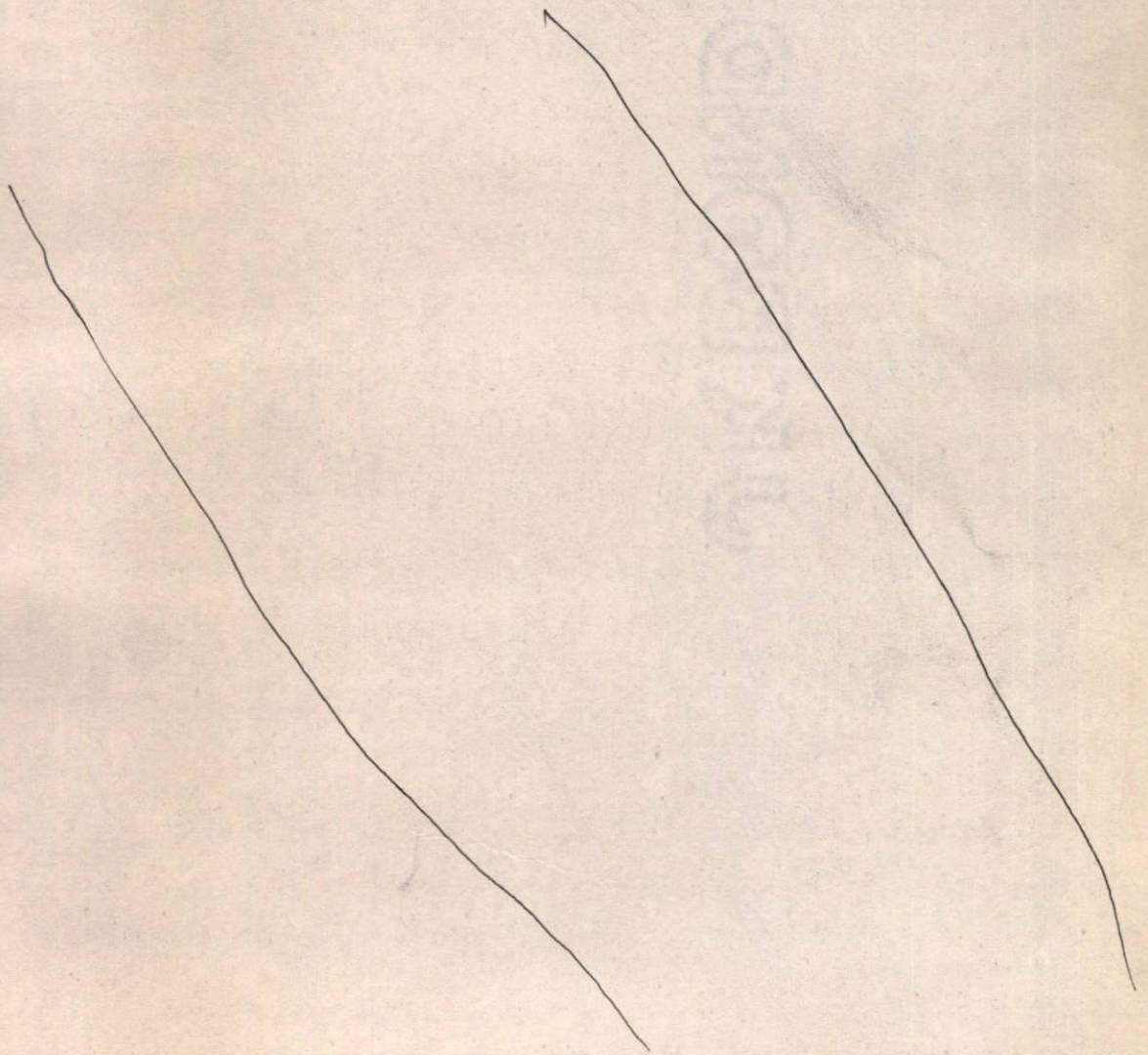

और नीति ग्रन्थों के आदेशों का पालन नहीं हो रहा था अनन्य भारत - भक्त आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य ने पराक्रमी चन्द्रगुप्त की सहायता से अधिकांश भारतवर्ष को एक अखण्ड साम्राज्य के रूप में एक सूत्र में आबद्ध कियातथा सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए पुनर्गठित और पुनर्व्यवस्थित एक ऐसा समाज - दर्शन प्रदान किया जो परम्परा और प्रयोग, प्रवीनता और नवीनता, धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता, आदर्श और व्यवहार का अद्भुत उदाहरण था ।

आचार्य चाणक्य की समाज दार्शनिक अवदान उनकी दो कृतियों "चाणक्य सूत्राणि" और "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में सन्निहित है । "कौटिलीय अर्थशास्त्र" मूलत: व्यावहारिक समाज-दर्शन का ग्रन्थ है । इसमें उन समस्त विधियों का अति विस्तृत और सूक्ष्म विवरण है जो एक समाज के निर्माण के लिए अपेक्षित है । "चाणक्य सूत्राणि" मूलत: सैद्धान्तिक ग्रन्थ है । इसमें समाज -निर्माण के सार्वभौम और सार्वदेशिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है । "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में समाज -दर्शन के दो अंगों - अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र का विशद विवेचन है, समाज दर्शन के अन्य पक्ष अल्प स्थान प्राप्त कर सके हैं । "चाणक्य सूत्राणि" स्पष्ट रूप से समाज-दर्शन और समाज शास्त्र का ग्रन्थ है जिसमें समाज के विभिन्न पक्षों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, के प्रश्नों का समाधान है । इसमें परिवार, विवाह, स्त्री, धर्म, राज्य, नीति, शिष्टाचार, व्यक्तित्व - निर्माण, सामाजिक विघटन, सामाजिक मनोविज्ञान आदि विषयों पर सूत्र शैली में विवेचन करके सागर में सागर भरने का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध में "चाणक्य सूत्राणि" के सूत्रों के आधार पर आचार्य चाणक्य के विविध समाज - दार्शनिक विचारों की व्याख्या और विश्लेषण का प्रयास किया गया है । सूत्रशैली अति संक्षिप्त और सांकेतिक होती है । इसमें प्राय: व्याख्याकार को भ्रम हो जाता है और व्याख्याकार अपने विचारों को ज्ञान या अज्ञान के कारण आरोपित करने का प्रयास करने लगता है । हमारा यह परम सौभाग्य रहा कि चाणक्य ने अपने अनेक विचारों

की विस्तृत व्याख्या स्वयं "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में की है। अनेक विचार "चाणक्यनीतिदर्पण" और "चाणक्य-सप्तति" में भी विस्तृत रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। भले ही ये ग्रन्थ चाणक्य - प्रणीत न हों, पर चाणक्य के विचारों की व्याख्या अवश्य है।

अतः शोध - छात्रा ने "चाणक्य सूत्राणि" के सूत्रों की व्याख्या स्वयं करने का प्रयास किया है तथा विषय के स्पष्टीकरण और परिपुष्टि के लिए अर्थशास्त्र की पूर्ण सहायता ली है। "चाणक्यसूत्राणि" में सामाजिक चिन्तन संबंधी कुछ पक्षों का अभाव रहा है। "कौटिलीय अर्थशास्त्र" के आधार पर इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास किया गया है। पश्चिमी दार्शनिक और समाजशास्त्री पिट्रिम सोरोकिन अपने विश्वविख्यात ग्रन्थ "कन्टम्पोरेरी सोशियोलाजिकल थ्योरी" में कहा है कि आज पश्चिमी जगत में सामाजिक दर्शन के क्षेत्र में अनेक नए - नए वादों का जन्म हो गया है, और अनेक व्यक्ति अपने को एक नई विचारधारा का जनक घोषित करने में गर्व अनुभव करते हैं। जब उनके विचारों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उनमें कोई नवीनता नहीं है। उनसे हजारों वर्ष पूर्व प्राचीन विचारक और दार्शनिक उनसे अधिक स्पष्ट रूप में उस विचारधारा को प्रस्तुत कर चुके हैं। और ऐसे प्राचीन विद्वानों में वे अनेक बार भारत और कौटिल्य का उल्लेख करते हैं। इस संदर्भ में फ्रांस, जर्मनी, इटली, इंगलैंड के विद्वानों ने भी कौटिल्य की महानता को कभी उन्मुक्त हृदय से और कभी संकोच के साथ स्वीकार किया है। हम इसी आधार पर यहाँ पर चाणक्य के सामाजिक दर्शन का पश्चिमी विद्वानों विचारों के संदर्भ में संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे कि आचार्य चाणक्य के विचार आधुनिक समाज - दार्शनिकों और समाज शास्त्रियों की तुलना में किसी भी स्तर पर अव्यावहारिक, अवैज्ञानिक और अशास्त्रीय नहीं है।

चाणक्य के विचारों का विश्लेषण करते हुए सर्वप्रथम उनके व्यक्तित्व-निर्माण के दर्शन पर विचार किया गया है। पश्चिम के समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है। ये सब एक तथ्य से सहमत हैं कि व्यक्तित्व - निर्माण में सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का सर्वाधिक योगदान होता है। संस्कृति और समाज कैसे हों जिससे व्यक्ति का अपेक्षित विकास हो सके - इस विषय पर वे विशेष आधार नहीं प्रदान कर सके हैं। जिन विचारकों ने संस्कृति के इतिहास -दर्शन के नाम पर संस्कृति के उन मूल्यों का विवेचन किया जिनसे संस्कृति अधिक समुन्नत और उदात्त होती है, इनमें प्रमुख रूप से स्पेन्गलर, टायनबी, सोरोकिन आदि प्रमुख हैं। सब इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन - मूल्य - प्रधान संस्कृति ही सर्वोत्कृष्ट होती है। इसमें व्यक्ति की सृजनात्मक क्षमता अधिकतम विकसित होती है। लेकिन यह विचारक ऐसी कोई योजना नहीं प्रस्तुत कर पाते हैं जिससे समाज को वे परिस्थितियाँ प्रदान कर सकें, जिससे उदात्त जीवन - मूल्य विकसित हो सकें। चाणक्य के समाज - दर्शन में इस अभाव की पूर्ति है। वह समाज को वर्णाश्रम - व्यवस्था का एक आधार प्रदान करते हैं जिसका लक्ष्य धर्म अर्थ और काम की सम्यक् उपलब्धि करना है। इस सामाजिक संरचना में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन - पर्यन्त के अधिकारों - कर्तव्यों का सूक्ष्म निर्देशन रहता है। इस योजना को प्रवर्तित करने का दायित्व सर्वसत्ता सम्पन्न राज्य में निहित होता है। इस प्रकार पश्चिमी सिद्धान्तों की तुलना में चाणक्य अधिक व्यावहारिक है। व्यक्तित्व बिना निर्देशन और नियंत्रण के सम्यक् दिशा में विकसित नहीं हो सकता है। आचार्य चाणक्य की प्रणाली दण्डनीति के माध्यम से इस कार्य को सम्पन्न कराने की योजना प्रस्तुत करती है। केवल योजना नहीं, अपितु इसे भारतीय समाज में व्यावहारिक रूप में भी दिया गया। इसका यह आशय नहीं है कि आचार्य चाणक्य निरंकुश अधिनायकवादी आज के राज्यों की तरह व्यक्ति को कोई

स्वतंत्रता नहीं प्रदान करते । हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि व्यक्ति के स्व के विकास के लिए वह अनेक स्वतंत्रताएं प्रदान करते हैं । आश्रम - व्यवस्था स्वयं में एक ऐसी प्रणाली है जिसमें व्यक्ति क्रमशः बन्धनों से मुक्त होता जाता है और सन्यास - आश्रम तक पहुंचते हुए वह लोक - मर्यादाओं से परिसीमित नहीं रहता है । पश्चिम इस प्रकार की कोई व्यवस्था प्रस्तुत कर सकने में असमर्थ रहा है ।

पश्चिमी चिन्तन - जगत में प्लेटो का मूर्धन्य स्थान है । उसने अपनी पुस्तक "रिपब्लिक" के माध्यम से एक आदर्श राज्य-व्यवस्था प्रस्तुत करने का प्रयास किया था जिसमें एक वर्ग या वर्ग - विभाजन की भी योजना थी । उसके विचार पर्याप्त उदात्त होते हुए केवल कल्पना - जगत तक सीमित रहे, क्योंकि उन विचारों को किसी राजसत्ता ने कार्यान्वित करने का प्रयास नहीं किया । प्लेटो तीन वर्गों में समाज को विभाजित करना चाहता था । प्रोफेसर उरविक का मत है कि प्लेटो का मत भारतीय वर्ण - व्यवस्था से प्रभावित था । समाज मनोवैज्ञानिक डा० मैक्डूगल ने विश्व की सामाजिक समस्याओं पर विचार करते हुए सामाजिक संरचना पर अपना मत व्यक्त किया है । उसने भी त्रिवर्गीय प्रणाली को विस्तृत रूप रेखा प्रस्तुत की है उसकी यह योजना वर्ण = व्यवस्था के निकट है । वह स्पष्ट कहता है, "इस प्रकार राज्य सरल जातीय संगठन के लाभों को प्राप्त कर लेगा।"[1] प्रख्यात समाजशास्त्री जे० एल० गिलिन ने पाश्चात्य समाज की सामाजिक संरचना की प्रणाली में उत्पन्न अनेक समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन किया । वह इन समस्याओं के समाधान के लिए एक मात्र उपाय यह बताता है कि समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंधों, संगठन और पारस्परिक संतोष के आधार पर होना चाहिए । इस सम्बन्ध में वह यह भी

---

1. डा० मैक्डूगल, इथिक्स इन्ड माडर्न वर्ल्ड प्राब्लम्स, पृ० 205

कहता है कि भारत की वर्ण - व्यवस्था , पाश्चात्य सम्पर्क के पूर्व इसी आधार पर थी । "सामाजिक जीवन स्थायी आधार पर था, विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध भली प्रकार समझे हुए थे, लोग इन सम्बन्धों के लिए अभ्यस्त थे, विभिन्न वर्गों में ईर्ष्या - द्वेष नहीं था । लोगों ने व्यवस्था के अनुरूप अपने को ढाल लिया था ।"[1] पाश्चात्य सामाजिक समस्याओं के विशेषज्ञ लिण्डस्मिथ तथा स्ट्राम ने लिखा है कि अमेरिका की मुक्त - वर्ग - व्यवस्था व्यक्तियों की महत्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहन देती है, लेकिन जिन लोगों की इच्छाओं - आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती उनकी असंतोष और भग्नाशा की भावना अत्यन्त प्रबल रूप में उत्पन्न होती है, जो सामाजिक शांति - व्यवस्था के लिए हानिप्रद है । उनका मत है कि मुक्त वर्ग - व्यवस्था में सदस्यों की महत्वाकांक्षाएँ सीमित हो जाती हैं, जिससे भग्नाशा और निराशा उत्पन्न नहीं हो पाती ।[2]

समाज शास्त्र के जन्मदाता आगस्ट काम्टे तथा समाज शास्त्री दुरखीम ने सामाजिक संगठन के प्रश्न पर विचार किया है । विद्वानों का दृढ़ विश्वास है कि श्रम - विभाजन अत्यन्त आवश्यक है । तथा यह विभाजन नैतिकता पर आधारित होना चाहिए । काम्टे चाहता है कि समाज की संरचना सामाजिक नैतिकता से अनुप्राणित होनी चाहिए । वह व्यवस्था किसी भी समाजवादी व्यवस्था से अधिक प्रभावपूर्ण होगी जो किसी राजनैतिक या आर्थिक आधार को अपेक्षा नैतिक आधार पर आश्रित होती । उसका विचार है यदि एक बार आध्यात्मिक क्षमता के निर्देशन में नैतिक शिक्षा की स्थापना हो जाती है, तो निर्धन वर्ग के संघर्ष का कोई अर्थ नहीं रहेगा ।[3] दुरखीम का मत है कि अहंवादी और सुखवादी व्यक्तिवाद

---

1. डा० जे० एल० गिलिन, सोशल पैथोलॉजी, पृ० 418
2. जान एरिक नार्डस्काग (सं०) एनालाइजिंग सोशल प्राब्लम्स, पृ० 304
3. सुसियन सेवी ब्रुहल, दि फिलास्फी आफ आगस्ट काम्टे, पृ० 304

व्यक्तिवाद से सामाजिक एकता कभी उपलब्ध नहीं होती है । शांतिपूर्ण और उपयोगी संविदात्मक सामाजिक संबन्ध केवल ऐसी कानूनी और नैतिक व्यवस्था में सम्पन्न हो सकते हैं जो संविदा के उचित और न्यायपूर्ण स्थों को सुरक्षित करती है । यह संविदाओं से उत्पन्न होने वाले कर्तव्यों को निश्चित व्यवस्था करती है और उनको कार्यान्वित करती है ।

पाश्चात्य विचारक प्रो० डी० आउसपेन्स्की का मत है कि वर्ण - विभाजन आदर्श सामाजिक संगठन का प्रतिनिधित्व करता है । निस्संदेह यही सामाजिक विभाजन है । मानव - समाजों का समुचित विकास केवल इसी सिद्धान्त को स्वीकार करने तथा इसके अनुसार चलने में ही सम्भव है । वर्ण - सिद्धान्त ने मनुष्य को सही मार्ग दिखा दिया है ।[1]

उपर्युक्त विद्वानों के मतों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य चाणक्य जिस सामाजिक संरचना के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, वह समाज की प्रगति और विकास के लिए उपयुक्त और सार्थक था । इस प्रकार चाणक्य का सामाजिक दर्शन सुदृढ़ आधार-भूमि पर आश्रित है, जिसमें समाज के विभिन्न अंग अपने - अपने निर्धारित कर्तव्यों का पालन करते हुए एक निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं ।

चाणक्य ने राजनीति - व्यवस्था को भी धर्म पर आधारित किया है । पश्चिमी धर्म - दर्शन कुछ अनिश्चित और परस्पर असम्बद्ध तत्वों का समूह है । वहाँ भारतीय सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय, वेदान्त आदि जैसे गम्भीर तत्व - चिन्तनों का अभाव है । इसके अतिरिक्त भारत की तरह वह व्यापक और व्यावहारिक रूप नहीं ग्रहण करता है। चाणक्य की धर्म की संकल्पना में समस्त राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक संस्थाएँ समाहित हैं । इसी लिए राजनीति को राजधर्म कहा गया है । चाणक्य का राजा स्वयं औरजनता

---

1. प्रो० डी० आउसपेन्स्की, ए न्यू माडल आफ दि यूनिवर्स, पृ0508

को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सम्यक् उपलब्धियों की ओर अग्रसर करता है। अतः राजनीति केवल जनता को नियन्त्रित रखने या सत्ता को सुख- सुविधाएँ पहुँचाने का माध्यम मात्र नहीं है । अनेक पश्चिमी विद्वान चाणक्य के राजदर्शन की तुलना प्लेटो और मैकियावली से करते हैं । प्लेटो का दर्शन व्यावहारिक नहीं काल्पनिक रहा है और मैकियावली को चाणक्य से तुलना करना चाणक्य के प्रति अन्याय है । मैकियावली के दर्शन में चाणक्य जैसी व्यापकता गम्भीरता और सिद्धान्त निष्ठा का अभाव है । अनेक विद्वानों पं० जवाहर लाल नेहरू ने "हिन्दुस्तान की कहानी" में इस भ्रम का निवारण कर दिया है ।

चाणक्य का सामाजिक दर्शन लगभग ढाई हजार वर्ष प्राचीन है । इसके उपरान्त भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए । विज्ञान ने विचार और रहन सहन की परिस्थितियों में असाधारण परिवर्तन कर दिया। लेकिन आधारभूत मनुष्यमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया । उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, भूख, प्यास, आदि पहले जैसी ही हैं। शासन की कितनी भी प्रणालियाँ प्रचलित हो गई हों, किन्तु प्राचीन राजनैतिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में आज भी कोई मौलिक अन्तर नहीं है । आज भी सत्ता के लिए संघर्ष होते हैं । राज्य विस्तार के लिए युद्ध होते हैं । एक दूसरे राष्ट्र को अधीन बनाने के लिए गुप्तचरों आदि का उपयोग होता है। ऐसी स्थिति में चाणक्य का राजदर्शन निरर्थक नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें उन मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन है जो प्रत्येक युग के शासकों और सरकारों को स्वीकार करना पड़ेगा । जैसे कठोर अनुशासन, अधिकतम उत्पादन, प्रजा के हित का अधिकतम चिन्तन, आदि एक स्वस्थ राजनैतिक संगठन के लिए सदा और सर्वदा अपेक्षित होंगे ।

चाणक्य राजनैतिक व्यवस्था के अधीन समाज के अन्य अंगों के विकसित होने का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं । यह सिद्धान्त भी आधुनिक युग की राजनैतिक प्रवृत्तियों के अनुरूप है, क्योंकि आधुनिक राज्य व्यक्ति

और समाज के समस्त पक्षों को नियन्त्रित और निर्देशित करने का प्रयास करता है। कल्याणकारी राज्य के नाम पर भारत तथा अन्य प्रजातन्त्रात्मक देशों में अर्थ - व्यवस्था सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में विभक्त है, जिसके अनुसार कुछ वस्तुओं का उत्पादन राज्य के अधीन है और कुछ के उत्पादन के लिए व्यक्तियों को स्वतंत्रता प्राप्त है। लेकिन भारत जैसे देश में ये दोनों क्षेत्र एक अपेक्षित परिणाम देने में पूर्ण सक्षम नहीं है। यहाँ पर चोर - बाजारी, मिलावट, नकली उत्पादन, आदि आर्थिक दुष्प्रवृत्तियों का साम्राज्य है। यदि चाणक्य की नीति का अनुसरण किया जाए, तो इनके निरसन के लिए कठोर दण्ड - व्यवस्था होनी चाहिए। केवल दण्ड से ही समाजघाती मनोवृत्तियों का नियन्त्रण हो सकता है।

सामाजिक संरचना के क्षेत्र में एक विभ्रम की स्थिति है। भारत ने वर्ण - व्यवस्था त्याग भी दी है, परन्तु जाति - व्यवस्था के रूप में उससे जुड़ी है। सार्वजनिक रूप से जाति और वर्ण की निन्दा की जाती है और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वर्ण और जाति का प्रयोग किया जाता है, जिसके अनेक दुष्परिणाम जातीय और वर्गीय संघर्ष के रूप में हमारे समक्ष आ चुके हैं। यदि वर्ण - व्यवस्था के सिद्धान्त को समकालीन परिस्थितियों के अनुसार संशोधित और परिवर्तित करके लागू किया जाए, तो समाज अधिक कार्यक्षम हो सकता है। इस मत का प्रतिपादन आधुनिक युग के अनेक विचारकों ने भी किया है। महात्मा गांधी ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया था - "वर्ण हिन्दुओं पर लादी हुई चीज नहीं, बल्कि जिन बुजुर्गों के सिर पर हिन्दू जाति का भला सम्भालने की जिम्मेदारी थी, उन्होंने यह कायदा खोज निकाला। नियम मनुष्य का नहीं, प्रकृति का अटल कानून है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण की तरह जो शक्ति सदा रहती है और सृष्टि में चलती है, उसे इन्सान की भाषा में वर्ण कह दिया है।"[1]

---

1. गांधी, वर्ण - व्यवस्था, पृ0 22

गाँधी जी ने इस विषय पर बहुत विस्तार से विचार किया था जो उनकी पुस्तक "वर्ण - व्यवस्था" में आज भी सुलभ है । इसके अतिरिक्त डा० भगवान दास, डा० राधाकृष्णन, डा० राधाकमल मुकर्जी आदि समाज शास्त्रियों ने इस व्यवस्था का समर्थन किया है । अतः इस संदर्भ में आचार्य चाणक्य के विचार प्राचीन होने के कारण उपेक्षणीय या केवल मौखिक श्रद्धा करने योग्य नहीं हैं, बल्कि उनसे प्रेरणा प्राप्त करके हम युगीन परिस्थितियों के अनुरूप इस महान सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास कर सकते हैं । आचार्य चाणक्य के बाद अनेक परिस्थितियों के कारण भारत का समाज अधिक उदार नहीं रह सका । जाति, विवाह, परिवार और स्त्रियों के संबंध में अनेक कठोर सीमाएँ खींच दी गईं । आश्चर्य है कि ये सीमाएँ आज भी अधिकांश हिन्दू - समाज को जकड़े हुए हैं । चाणक्य के काल में अन्तर्जातीय विवाह, विधवा पुनर्विवाह तथा पति या पत्नी के नियोग्य होने पर दोनों को दूसरा विवाह करने को धार्मिक, सामाजिक और राजकीय स्वीकृति प्राप्त थी । समाज सुधार के अनेक आन्दोलन विगत शताब्दी में हुए हैं, लेकिन व्यापक रूप में अन्तर्जातीय विवाहों और विधवा विवाहों को सामाजिक स्वीकृति आज भी नहीं प्राप्त हो सकी है । चाणक्य के प्रगतिशील विचार आज भी हमारा मार्ग - दर्शन करने में सक्षम हैं ।

आज भारत में धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त की बहुत चर्चा है। राज्य व्यक्तियों के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता है । चाणक्य के अनुसार राज्य का एक सुनिश्चित धर्म था और उसी के अंतर्गत सम्पूर्ण समाज संचालित होता था । राज्य का कर्तव्य था कि वह यह भी देखे कि धर्म का किसी रूप में दुरुपयोग न हो । आज विपरीत स्थिति है, राज्य तटस्थ है जिसके फलस्वरूप भारत में धार्मिक विद्वेष अपनी चरम सीमा पर है, जिससे शासन के समक्ष नित्य नई समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं तथा भारत की अखण्डता को क्षति पहुँचने की सम्भावनाएँ प्रकट होती हैं । इसका मूल कारण

शासन का धर्म के प्रति अनिश्चित दृष्टिकोण है । विश्व के अनेक उन्नत देशों में विभिन्न सम्प्रदायों और धर्मों के लोग रहते हैं, लेकिन वहाँ साम्प्रदायिक समस्या जैसे संकट न्यूनतम परिलक्षित होते हैं । इसका मुख्य कारण वहाँ की सरकारों का धर्म संबंधी स्पष्ट मत है । यूरोप के अधिकांश धर्म ईसाई धर्म को प्राथमिकता देते हैं, एशिया के अनेक मुस्लिम राष्ट्र इस्लाम को राष्ट्र धर्म मानते हैं । यदि भारत यहाँ के बहुसंख्यकों के धर्म को राज्य का धर्म घोषित करें तो उसमें साम्प्रदायिक समस्या का समाधान हो सकता है । चाणक्य के धर्म-दर्शन का मूल तत्व यही था । उनके राज्य में विदेशियों, म्लेच्छों को अपने धर्म के पालन की अनुमति अवश्य थी, लेकिन विदेशी धर्म को प्रचार प्रसार की अनुमति नहीं थी । दूसरे शब्दों में, अन्य धर्म के लोगों के अधिकार सीमित कर दिए गए थे । यदि भारत के कर्णधार चाणक्य के धर्म संबंधी परिप्रेक्ष्य और दण्ड संबंधी नीति का अनुसरण करें, तो धार्मिक आधार पर विघटन करने वाले तत्वों का उन्मूलन हो सकता है । इतिहास से ज्ञातहोता है कि चाणक्य के काल में भी पश्चिमोत्तर सीमा पर और भारत के अन्य भागों में धर्म के आधार पर देश को विघटित करने का प्रयत्न किया गया था। यहाँ तक की कुछ धार्मिक नेता यूनानियों से मिलकर देश का अहित करना चाहते थे । चाणक्य ने निःसंकोच भाव से इन दिग्भ्रमित और तथा-कथित धर्म - धुरन्धरों को कठोर दण्ड से पददलित कर दिया था । चाणक्य का मत है कि कोई धर्म राष्ट्र के हित से बड़ा नहीं है । यदि कोई धर्म देश की अखण्डता और समाज की एकता को नष्ट करता है तो वह धर्म नहीं अधर्म है । भारत के शासकों को आज भी चाणक्य का यह सिद्धान्त मार्ग - दर्शन करने में पूर्ण सक्षम है ।

चाणक्य के अन्य क्षेत्रों का चिन्तन भी किसी दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है । उन्होंने समाज-मनोविज्ञान, आचार - दर्शन, नगर और ग्रामीण नियोजन, मौसम-भूगोल, अर्थ - दर्शन, आदि के क्षेत्र में जो सुचिन्तित

विचार दिए है, वे प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के लिए विचारणीय बने रहेंगे। आचार्य चाणक्य की नियोजित अर्थ - व्यवस्था और कल्याणकारी राज्य की संकल्पना पर बर्नार्ड ग्रेलोइयर जैसे अनेक विदेशी विद्वान भी मुग्ध हैं। भारतीय गणतन्त्र के महान नेता पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी आचार्य चाणक्य के अर्थ दर्शन की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। चाणक्य का अर्थ - दर्शन तथा ग्रामोद्योग और नगर-नियोजन का सिद्धान्त भारतीय शासकों का मार्ग - दर्शन कर सकता है। हम विदेशों से उधार ली हुई प्रविधि और प्रणाली के आधार पर भारत का आर्थिक विकास करना चाहते हैं, जो यहाँ की सांस्कृतिक और मानसिक परम्पराओं के अनुकूल नहीं है। यदि आर्थिक विकास का दर्शन चाणक्य के चिन्तन पर आधारित हो, तो यह भारत के संस्कारों, परम्पराओं और साधनों के अधिक अनुरूप होगा।

चाणक्य के समाज - दर्शन के विभिन्न आयामों का विहंगावलोकन करने और पश्चिमी समाज दार्शनिकों के चिन्तन से तुलना करने, तथा इसकी सामकालीन भारत के लिए उपयोगिता का आकलन करने के पश्चात शोध - छात्रा इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत में जन्मे आचार्य विष्णु गुप्त "चाणक्य" (कौटिल्य) विश्व-इतिहास की एक अद्वितीय और अनन्य उपलब्धि है। उनका जैसा प्रखर, मेधावी, परम-तेजस्वी और महान दूरदर्शी तथा पूर्ण व्यावहारिक कोई अन्य व्यक्ति इस धरा-धाम पर अवतरित नहीं हो सका है तथा "चाणक्य सूत्राणि" ~~समाज-दर्शन का~~ और "अर्थशास्त्र" जैसी अद्भुत वैज्ञानिक समाज - दार्शनिक कृतियों का सृजन नहीं कर सका है। आचार्य चाणक्य के इन चार सूत्रों पर ही विश्व के अनेक समाज - दर्शन नगण्य से प्रतीत होने लगते हैं।

"जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत्।
ग्रामार्थं कुटुम्बमपि त्यजेत्।
कुटुम्बार्थं पुत्रमपि त्यजेत्।
आत्मार्थं सर्वं त्यजेत्।"[1]

---

1. चाणक्य सूत्राणि, सूत्र सं० 383, 384

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।"[1]

---

1. चाणक्यनीतिदर्पणः 3/10

सहायक ग्रन्थ सूची

संस्कृत के ग्रन्थ

|1| अष्टाध्यायी,
टीका - विनोबा भावे

|2| अथर्ववेद , आचार्य श्री राम शर्मा

|3| ईशोपनिषद,
टीका - स्वामी राम

|4| उपनिषद भाष्य,
खण्ड - 1-2 गीता प्रेस

|5| ऋग्वेद,
आचार्य श्री राम शर्मा

|6| कौटिलीय अर्थशास्त्रम्
टीका - वाचस्पति गैरोला

|7| कौटिलीय अर्थशास्त्र,
टीका - डा० रघुनाथ सिंह

|8| गीतातत्वालोक,
श्री उड़िया बाबा

|9| चाणक्य सप्तति,
सम्पादक - के० बी० शर्मा

|10| चाणक्य नीतिदर्पण

|11| चाणक्य सूत्राणि,
टीका - रामवतार विद्याभास्कर

|12| चाणक्य सूत्राणि
टीका - वाचस्पति गैरोला

|13| पातंजल योगदर्शन,
व्याख्याकार - स्वामी श्री ब्रम्हलीन मुनी

[14] पातंजल योगदर्शन,

सांख्य योगाचार्य श्रीमद हरिहरानन्द

[15] मुद्राराक्षस

व्याख्याकार-डा० जगदीशचन्द्र मिश्र

[16] योगसूत्र,

गीताप्रेस

[17] यजुर्वेद

आचार्य श्री राम शर्मा

[18] वेदभारती,

टीका - डा० शिव बालक द्विवेदी

[19] श्री महाभारत, शान्तिपर्व,

गीता प्रेस

[20] श्रीमद भगवद्गीता,

गीताप्रेस

हिन्दी के ग्रन्थ

1. अद्भुत भारत,
   ए० एल० बाशम
2. इमिल दुरखाइम,
   चित्रा त्रिपाठी
3. उपनिषद दर्शन,
   आर० डी० रानाडे
4. कौटिल्य कालीन भारत,
   आचार्य तीर्थंकर
5. दर्शन की रूपरेखा,
   जे० एन० सिन्हा
6. धर्म और समाज,
   डा० राधा कृष्णन
7. धर्मशास्त्र का इतिहास,
   डा० पी० वी० काणे
8. धर्मद्रुमः,
   राजेन्द्र प्रसाद पाण्डे
9. नागरिक शास्त्र का क,ख,ग,
   प्रो० मदन मोहन पाण्डे
10. नीतिशास्त्र,
    डा० जे० एन० सिन्हा
11. न्यायशास्त्र की रूपरेखा,
    काशीनाथ उपाध्याय
12. मुलात्मिक भूगोल,
    श्री राजीव लोचन शर्मा
13. पाश्चात्य दर्शन का इतिहास,
    डा० जमना प्रसाद अवस्थी

114. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास,
डा० देवराज

115. प्राचीन भारत की विभूतियाँ,
राधा कुमुद मुकर्जी

116. प्राचीन भारत में संघटित जीवन,
डा० आर० सी० मजुमदार

117. प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति और धर्मदर्शन,
डा० ईश्वरी प्रसाद

118. प्राचीन भारती संस्कृति और इतिहास,
सत्यकेतु विद्यालंकार

119. भारतीय इतिहास कोश,
सच्चिदानन्द महाचार्य

120. भारतीय दर्शन
जे० एन० सिन्हा

121. भारतीय दर्शन,
बलदेव उपाध्याय

122. भारतीय दर्शन
उमेश मिश्र

123. भारतीय वस्तु शास्त्र,
डा० विजेन्द्र नाथ शुक्ल

124. भारतीय संस्कृति,
साने गुरूजी

125. भारतीय संस्कृति,
डा० देवराज

126. भारतीय संस्कृति और समाज,
श्री शम्भू रत्न त्रिपाठी

127. भारतीय साहित्य और संस्कृति,
डा० हरिदत्त शास्त्री

128। भारतीय संस्कृति अंक,
कल्याण

129। मानविकी पारिभाषिक कोश, दर्शन खण्ड,
डा० वी० एस० नरवणे

130। मौर्य साम्राज्य का इतिहास,
सत्यकेतु विद्यालंकार

131। योग मनोविज्ञान,
डा० शान्ति प्रकाश आत्रेय

132। योगांक
कल्याण

133। राजनैतिक समाजशास्त्र,
डा० आर० एन० शर्मा

134। वर्ण व्यवस्था,
महात्मा गांधी

135। विलोडो परेटो,
प्रशान्त त्रिपाठी

136। वैदिक राजव्यवस्था,
डा० श्याम लाल पाण्डे

137। वेदों का परिचय,
डा० ओम प्रकाश पाण्डे

138। वैदिक विश्वदर्शन,
पं० हरि शंकर जोशी

139। वैदिक साहित्य और संस्कृति,
बलदेव उपाध्याय

140। समाज दर्शन,
डा० राम नारायण व्यास

141। समाज - दर्शन की रूपरेखा,
जे० एस० मैकेंजी

|142| समाज मनोविज्ञान

डा० जयदेव सिंह

|143| समाज मनोविज्ञान,

सुरजीत कौर

|144| समाज शास्त्र की विधियाँ,

वार्ल्स एल उड

|145| समाज विज्ञान,

मल्लिक

|146| समाज शास्त्र के मूलाधार,

श्री शम्भू रत्न त्रिपाठी

|147| सामाजिक पुनर्निर्माण,

डा० बर्ट्रेंड रसैल

|148| सामाजिक विघटन,

डा० सत्येन्द्र त्रिपाठी

|149| हिन्दू राजशास्त्र,

कैलाश चन्द्र बंसल

|150| हिन्दू राजशास्त्र,

भाग 1-2, के०पी० जायसवाल

|151| हिन्दू परिवार मीमांसा,

हरिदत्त विद्यालंकार

|152| हिन्दू धर्म कोश,

डा० राजबली पाण्डे

|153| हिन्दू विवाह विधि,

मोती बाबू

|154| हिन्दू संस्कार,

डा० राजबली पाण्डे

अंग्रेजी-ग्रन्थ-सूची

1. A History of Indian Civilization,
   Radha Kamal Mukerjee
2. Chandragupta Maurya and his times,
   Radha Kumud Mukerjee
2. Caste and Class in India,
   G. S. Ghurye
4. Contribution to Indian Sociology,
5. Corruption,
   Monteiro
6. Encyclopedia of the Social Sciences,
   Vol. 1-15, E.R.A. Seligman
7. Epochs in Hindu Legal History,
   U. C. Sarkar
8. Evolution of Hindu Marriage,
   Nilakshi Sengupta
9. Hindu Religion, Customs and Manners,
   P. Thomas
10. Hindu Social organization,
    P. H. Prabhu
11. Hindu world,
    Benjamin Walker
12. History and philosophy of Social work in India,
    A. R. Wadia
13. Human Society,
    Davis

14. Indian Thoughts and its developments,
A. Schweitzer

15. India - what can it teach us,
F. Max Muller

16. Kalidas and Kautilya,
V. Raghvan

17. Kautilya,
K P. Bandyopadhyaya

18. Kautilya Studies,
Bernhard Breloer

19. Kautilya Studies,
S. Konow

20. Kingship and community in early India,
charles Drekmeier

21. Literarhistorisches dus dem Kautilya,
Berlin

22. Manu Dharma Sastra,
Dr. Kewal Motwani

23. Megasthenes and Kautilya,
Stein

24. Marriage and Family in India,
K. M. Kapadia

25. Modern Historical and Social Philosophies,
Pitirim A. Sorokin

26. Origin and Development of Caste,
G. K. Pillai

27. Political Science and Government,
G. W. Garner

28. Political Science,

R. G. Gettell

29. Positive Background of Hindu Sociology,

B. K. Barkar

30. Readings in Social Psychlogy,

Maccoby

31. Religion, Culture and Society,

L. Schneider

32. Social and Cultural Dynamics,

Pitirim Sorokin

33. Social Thought from lore to Science,

Becker Barnes

34. Social Psychology of Modern Life,

Rinchart

35. Social Pathology,

G. L. Gillin

36. Sociological Bulletin,

37. Social Disorganization,

Elliot and Merill

38. Society,

R. M. Maciver

39. Studies in Kautilya,

M. V. Krishna Rao

40. The Authenticity of Kautilya,

A. B. Keith

41. The Dance of shiva,

Anand Coomaraswamy

42. The Development of Social thought,
E. S. Bogardus

43. The Development of Sociology,
F. N. HOUSE

44. The Message of the Upnishads,
Swami Ranganathananda

45. The position of women in Hindu civilization,
Dr. A. S. Altekar

46. The Status of women in Ancient India,
Indra

47. The text book of the Arthoshastra,
D. D. Kosambi

48. Vishveshvarananda Indological journal

49. The Religion in India,
Max weber

50. Vidyas A homage to Comte,
G. S. Ghurye

51. Yoga Kosa, Part - 1, 2
Swami Digambarji

इरा मिश्रा
शोध-छात्रा

608